प्रश्न

संपादक

सर्व-प्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १७२वाँ पुष्प

प्रश्न

[क्रांतिकारी सामाजिक उपन्यास]

लेखक

श्रीसर्वदानन्द वर्मा

मिलने का पता—

प्रभात पब्लिशिंग हाउस,

कचहरी रोड,

अजमेर।

तृतीयावृत्ति

सं० २०१४ वि०]

[मूल्य ३-५० पैसा
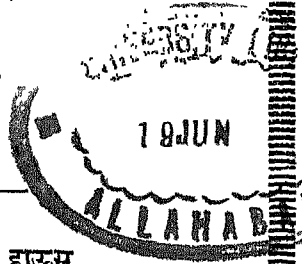
प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. प्रभात पब्लिशिंग-हाऊस, नया गाँव, लखनऊ
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. भारती (भाषा) भवन, चर्खेवालाँ, दिल्ली
४. जवाहिर-ज्योति कोठी बंशीधर, इलाहाबाद
५. सावित्री-साहित्य सदन, मच्छोदरीपार्क, बनारस
६. सुधा-प्रकाशन, भारत आश्रम राजाबाजार, लखनऊ
७. वेस्टर्न बुकडिपो, रेज़िडेंसी रोड, नागपुर

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा भारत-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक

राजस्थान प्रिंटिङ्ग वर्क्स

जयपुर।

समर्पण

किसी को—

जो मुझे पूरी तरह समझे, पहचाने और माने।

यों तो दुनिया में मेरे सभी हैं, किंतु मैं किसी का नहीं। मेरे 'अपने' बनने के लिये सभी लालायित हैं, किंतु मुझे 'अपना' बनानेवाला कोई नहीं। यदि मेरा भी 'कोई' होता, तो यह छोटी-सी कृति उसके ही हाथों में सौंपकर धन्य होता, किंतु जब इस बड़ी-सी दुनिया का छोटे-से-छोटा अधिवासी भी मेरे हृदय के समीप आने में अपना अपमान समझता है, तब इसके अतिरिक्त मैं और क्या कर सकता हूँ कि यह तुच्छ भेंट सूने वातावरण में, किसी अज्ञात हाथों के लिये, बिखेर दूँ। किसी को यदि मेरे अकेलेपन पर तरस आ जाय, तो वह इसे अपने हाथों में उठा ले। इतना ही मेरे लिये बस है।

किसी का—

सर्वदानन्द वर्मा

इस उपन्यास का एक-एक अक्षर
सत्य है, अतः कोई सज्जन
इसमें अपना व्यक्तित्व
ढूँढने की चेष्टा
न करें।

—लेखक

दो शब्द

अपने चारों ओर फैले संकुचित वातावरण में जो देखा, सुना और अनुभव किया, वही मैंने इस उपन्यास में लिखा है। यह मैं मानता हूँ कि मेरा ज्ञान सीमित है, मानव-प्रकृति का अनुशीलन बहुत थोड़ा है, और लिखने की क्षमता तो नहीं के बराबर है। यही कारण है, इस छोटे-से उपन्यास में आप सर्वत्र दोष-ही-दोष देख पाएँगे। किंतु यदि आप क्षण-भर रुककर सोचें कि यह मेरी उस समय की रचना है, जब मैं हिंदी में नया-नया ही तुतलाने लगा था, पहले ही-पहले क़लम उठाई थी, और चरित्रों के अध्ययन में कोरा था, तो आप अवश्य क्षमा भी कर देंगे। कुछ कारण ऐसे हुए, कुछ घटनाएँ ऐसी घटीं, जिनसे बाध्य होकर मेरा मन बाहर आ पड़ने को उत्सुक हो उठा, जब मेरी कुछ-कुछ उच्छृंखल भावनाएँ इस समाज से, इस देश से, इस विश्व से और स्वयं अपने से विद्रोह करने लगीं, और मेरी लेखनी, उससे जो बना, लिखती गई, और जो लिखती गई, वह आपके सामने है।

जो ग़ुलाम है, उसका आज़ादी के लिये जंग करना स्तुत्य है, क्षम्य है। भारत ग़ुलाम है, पराधीन है, और आज़ाद होने के लिये युद्ध कर रहा है, भले ही वह अहिंसात्मक हो, और इस बात की प्रत्येक समझदार व्यक्ति ताईद करता हो। फिर हमारे घरों की स्त्रियाँ घूँघटों की ओट में अपना मुखचंद छिपाए, छाती पर के उठते-गिरते अंचल के भीतर एक प्यार-भरा, दुलार-भरा, त्यागी हृदय दबाए, आँखों में आँसू, पर अधरों पर मुस्कान लिए

अपने अनचाहे पति नामधारी जंतुओं के प्रति, पीस डालने-वाली विकृत भावनावाली सुसराल के प्रति और स्वार्थी माता-पिताओं के प्रति यदि विद्रोह का काला झंडा लेकर खड़ी होती हैं, तो क्यों वे स्तुत्य, प्रशंसनीय और श्लाघ्य नहीं हैं ? 'काय-वचन-मन पति-पद-प्रेमा' के उपहासास्पद उदाहरण और प्रमाण दिखाकर उन्हें एक पतिव्रत को उपदेश देने का साहस यह हिंदू-जाति क्यों करती है ? हम आप सड़कों पर चलती हुई सौंदर्य की चलती-फिरती पुतलियों को देखकर अपने दिलों पर हाथ रख सकते हैं, इसका हमें पूर्ण अधिकार प्राप्त है, और हमारी यह भावना सीधा-सादा सौंदर्य-प्रेम कह दिया जा सकता है, परंतु उनके लिये चिकों की ओट में खड़े होना भी क्यों दूषण है ? आप कहेंगे इससे अनीति और दुराचार बढ़ेगा। मैं भी मानता हूँ। किंतु स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण तथा शासन न रखकर आपको उन्हें दबाने का क्या अधिकार है ? मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं आजकल की विवाह-प्रथा का घोर विरोधी हूँ। विवाह केवल वेदमंत्रों, ऋचाओं के सहारे, लग्न-मंडप में बैठकर और कुछ लोगों को अपने क्रय-विक्रय का साक्षी बनाकर यदि न हो, तब भी विवाह का वास्तविक अर्थ सिद्ध हो सकता है। उपन्यास की प्रधान पात्री सुशिक्षिता रेणु एक ऐसी ही विचारों की धीर-गंभीर युवती है। वह सुरेश से विवाह करती है, उससे सदा के लिये मिलती है किंतु इन निरर्थक और रूढ़िवादी तमाशों के साथ नहीं। उसका इस विषय का मनन अगाध है, और मानव-हृदय की कमज़ोरियों को वह भली-भांति जानती है। कभी-कभी आप उसके मुँह से विवाह के पक्ष में भी दलीलें सुन सकते हैं, किंतु यह केवल मैंने अपने से अन्य पक्षवालों की बात कहने के हेतु ही लिखा है। जिसे अपना अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व में लय कर देना हो, अपने को भूल कर दूसरे की

आराधना करना हो, एक जबरदस्ती का जुआ अपने गले में डालना हो, और एक सीमा में अपने को बंद करके विश्व प्रेम का गला घोंट देना हो, उसे विवाह करने का आदेश, सलाह अथवा सम्मति मैं दे सकता हूँ।

मालती के विवाहित होने पर भी परपुरुष-प्रेम का और कुन्दन की वासनाजन्य अनुभूतियों का उपहास करनेवाले तो सभी हो सकते हैं, पर एक हृदयवान्, जिसके पास हृदय परखने की कसौटी है, इन्हें व्यर्थ कहने का साहस नहीं करेगा। कुन्दन के प्रति मेरी कितनी सहानुभूति है, यह आप उसके मनोभावों द्वारा व्यक्त मेरे विचारों से पाएँगे, और उसका प्रायश्चित उसकी अनंत शांति का द्योतक है। मालती का विधवा हो जाना भी वैधव्य के अभिशाप से प्रपीड़ित अपनी बहनों की कुदशा दिखलाने के ही लिये है। महादेई के गर्व का पतन अवश्यंभावी था, और वह दिखलाया भी गया है। लाला हरिशंकर जैसे पत्नियों के दास, क्रीतदास आप घर-घर पाएँगे, और कृष्णशंकर जैसे विद्वान, जिनकी विद्वत्ता ही घर की युवती स्त्रियों को उनकी ओर से विमुख कर देती हैं, आपको प्रत्येक परिवार में मिलेंगे। सुरेश का चरित्र मेरा अपना है। उसके जीवन की अधिकांश घटनाएँ सत्य हैं, और मेरे जीवन से सीधा संबंध रखती हैं। मेरे एक सुखद स्वप्न ने ही, एक मधुर कल्पना ने ही रेणु को जन्म दिया है, और यह स्पष्ट है कि मैं अब भी उससे विमुख नहीं हो सका हूँ। अपने इसी भावुक हृदय और सौंदर्य प्रेम के कारण प्राचीनता और सदाचार के ढोंगी पुजारियों की वक्र दृष्टि में पतित और नीच समझा जाता हूँ, किंतु विवश हूँ। यह छोटा-सा हृदय कहाँ दबा दूँ, कोई तो बताए!

उपन्यास लिखने की आवश्यकता क्या थी? कुछ दिन हुए, यही लगभग २ या तीन वर्ष, जब हम लोगों ने काशीस्थ रत्नाकर-

रसिक-मंडल के तत्वावधान में स्वर्गीय पूज्य श्रीजयशंकर 'प्रसाद' का 'चंद्रगुप्त'-नाटक अभिनीति किया था, जिसमें इन पंक्तियों के लेखक को नद के भूतपूर्व मंत्री शकटार का चरित्र लेना था। अभिनय का अभ्यास मेरे एक मित्र तथा रत्नाकार-रसिक-मंडलके प्राण श्रीपं० रामानंद मिश्र के मकान पर, ऊपर कमरे में, किया जाता था।। उक्त पडितजी के विश्वास-पात्र होने के कारण तथा नाटकों के अभिनय में आरंभ से ही विशेष रुचि होने की वजह से मैं लगभग पूरे दिन तथा रात्रि के अधिकांश भागों में वहीं बना रहता था। उसी समय अतिशय भावुक मेरा हृदय किसी की ओर अनजाने रूप में सहसा ही खिचने लगा। यह बात ओरों के लिये केवल परिहास की वस्तु थी। कहना तो न चाहिए, किंतु कह देता हूँ कि मेरा अभिनय भी बहुत सफल रहा, और वह भी इसलिये कि मित्रों ने, जो मेरी कमजोरी जानते थे, मुझे विश्वास दिला दिया था कि कोई दर्शकों में उपस्थित है। अपने हृदय के इस गुप्त वैभव को आपके सामने खोलते हुए मैं तनिक भी लज्जित या भयभीत नहीं हूँ। मैं जानता इस प्रकार की भावनावाले व्यक्ति समाज में पतित तथा कुल में कलंक कहे जाते हैं, किंतु मेरा अपना विश्वास है, यह कोई इतना बड़ा अपराध नहीं, जिसके दंड-स्वरूप एक व्यक्ति का जीवन व्यंग्यों, तानों और उपहासों से भर दिया जाय।

एक बात और आधुनिक विवाह-प्रथा का घोर विरोधी होते हुए भी मैंने विधिवत् विवाह किया है। लोग मुझसे पूछते हैं— क्यों? उन्हें मैं केवल यही विनम्र उत्तर देना चाहता हूँ कि इसके बिना मेरा इस विषय का ज्ञान और अध्यन अधूरा रह जाता। स्वयं अपने ऊपर जो न बीते, उसे केवल सुनकर ही नहीं लिखा जा सकता। कम-से-कम वह पूर्ण नहीं होगा।

एक शब्द उपन्यास की कथा-वस्तु और भाषा के विषय में भी कहना

है। कहानी में कोई मौलिकता और भाषा में कोई नवीनता नहीं है, यह मैं स्वयं जानता हूँ। एक व्यक्ति जो देखता है, जिस बात का अनुभव करता है, वही उसके हृदय से निकल सकता है। आयु के अनुपात से मेरा अनुभव-क्षेत्र सीमित है, भाषा पर अधिकार भी कम है। अपनी चीज़ को दूसरों के सामने रखने की स्वाभाविक चाह को रोक न सका, इसीलिये यह आपके सामने है। इसमें मैंने कहीं भी रत्ती-भर परिवर्तन या संशोधन नहीं किया है। यह उपन्यास जैसा भी था, जो कुछ भी था, मेरे परिश्रम का परिणाम था, मुझे प्रिय था। अतः उसी रूप में आपके सामने उपस्थित है। आशा है, आप इसकी भूलों को हिन्दी के एक तुच्छातितुच्छ प्रेमी और विद्यार्थी का असफल प्रयास समझकर क्षमा करेंगे, और भविष्य के लिये उत्साहित करेंगे।

विशेष विनय।

६, ए० पी० सेन रोड
लखनऊ
३। ५। ३८

आपका —

लेखक

भोगे रोगभयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जराया भयं;
शास्त्रे वादभयं, गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं, भगवतः शम्भोः पदं निर्भयम् ।

★ ★ ★

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्यसक्तः ;
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।

भर्तृहरिः

(१)

लाला हरिशंकर ने जब से होश सँभाला, दगा-फरेब, झूठ-बेईमानी की ही दुनिया में रहे। इस बयालीस वर्षों के जीवन का अधिकांश, झूठ बोलते, लिखते और आचरण करते ही व्यतीत हुआ है। वह काशी के एक मैजिस्ट्रेट हैं। दिन का अधिकांश उस अदालत में व्यतीत होता है, जहाँ पैसे के बल पर फैसले होते हैं, झूठ के आवरण में न्याय का नाटक खेला जाता है, जहाँ अधिकतर अपराधी-निरपराध के स्थान पर धनी-निर्धन का खयाल रक्खा जाता है। यदि बड़े-से-बड़ा अपराधी भी पैसेवाला है, और किसी रूप में न्याय के ठेकेदारों की पूजा कर चुका है, तो उसे बेदाग छुड़ाने की चेष्टा की जाती है। पर, इतना होते हुए भी, लाला हरिशंकर को अब इन कार्यों से घृणा-सी होती जाती थी। आएदिन किसी निरपराध को दंड-विधान की चक्की में पीस देना असह्य होता जा रहा था, किसी गरीब का सर्वनाश होते देख कर उनका रोम-रोम अब काँप उठता था! जवानी के नए जोश में बड़े प्रेम से उन्होंनेस इ पद को गले लगाया था,

कितने ही निर्दोष व्यक्तियों की बसी हुई दुनिया उजाड़ी थी, पर अब न्यायालय की उस ऊँची कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्हें गरीब और असहायों की आह का मूल्य न्याय के कठोर शासन से कहीं अधिक जान पड़ता था। कहना चाहिए, वह अब संसार से उदासीन रहना चाहते थे।

पर इस समय भी एक चिंता उन्हें मारे डालती थी। पुत्र का अंधकारमय भविष्य उनकी आँखों के आगे सदा नाचता रहता था। वह मानो हवा में किले बनाते थे, बालू की भीत उठाना चाहते थे। सुरेश से उन्होंने कितनी बड़ी-बड़ी आशाएँ लगा रक्खी थीं, नित्य नए बाँधनू बाँधते रहते थे, पर सुरेश ने उनकी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। एक साल इन्ट्रेंस की परीक्षा में बीमार पड़ गया, दूसरे साल फेल होकर बैठा। पढ़ाई का छकड़ा आगे न बढ़ सका। कितनी एँड़े लगाई गई, कितना चुमकारा-पुचकारा गया, पर डिग्री-का बैल मान का नहीं। ले-देकर बैठ गया। सुरेश ने कभी रोटी के प्रश्न पर ध्यान ही दिया। घर के सब लोग, विशेषकर लाला हरिशंकर उससे इसी कारण असन्तुष्ट रहते। सुरेश ने कभी किसी की लाल आँखों की परवा न की। वह समझता था, जिस प्रकार जब तक विवाह नहीं होता, तब तक थोड़ी भी स्वच्छंदता दिखाने पर लोग अवारे की उपाधि पाते हैं, पर विवाह हो जाने पर वही घुमक्कड़ आवारे दूध के धोए बन जाते हैं, उसी प्रकार चार पैसे कमाकर घर में देने से नालायक

से–नालायक पुत्र भी परम योग्य और पूजनीय हो जाता है। किंतु वह रुपयों के पीछे दौड़ेगा नहीं, रुपयों को स्वयं उसके पीछे दौड़ना चाहिए। वह इसे मानने को कदापि तैयार नहीं था कि वह एकदम अयोग्य और मूर्ख है। संसार में कोई अयोग्य नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति अपना–अपना व्यक्तित्व रखता है। उसने ऊँची–ऊँची डिग्री नहीं ली, यही कारण उसे मूर्ख साबित नहीं कर सकता। वह अपने सामने ही डिग्री की पूँछ लिए हुए घूमने वालों की दुर्दशा देखता था और यह भी अनुभव करता था कि इनसे कई गुना अच्छे बेचारे अशिक्षित हैं। कम–से–कम उनमें विद्वत्ता का वह दम्भ, तर्क की वह अहंकारिता और मस्तिष्क का वह विकृत गर्व तो नहीं।

सुरेश धनी पिता का पुत्र होते हुए भी सीधा–सादा, सरल और निष्कपट था। न बहुत सुन्दर, न कुरूप। उसे सामने रहने वाली श्रीमती रमा की पुत्री रेणु से प्रेम था। रेणु भोली–भाली थी, सुन्दर और हँसमुख। सुरेश की अवस्था बीस साल की थी, मसें भीज रही थीं। रेणु सोलह साल की विनयशील, किन्तु चंचल तितली थी। सुरेश को जाने क्यों बहुत ऊँचे आदर्शवाद से घृणा सी थी। उसका आदर्शवाद केवल उस सीमा तक जाना चाहता था, जहाँ से जीवन एकदम नीरस न हो जाय। वह रसिक था, मिलनसार था और साहसी था। पींजरे में बन्द पक्षी की तरह रहना उसे पसन्द न था, वह वायु की तरह उन्मुक्त विचरना चाहता था। राह चलते

युवतियों को वह अनुचित रीति से झाँकता हो, अथवा छेड़छाड़ करता हो, यह बात न थी। किन्तु सहसा किसी को सामने देखकर वह आँखें भी न फेर ले सकता था। इसे वह आदर्शवाद का ढोंग समझता था। रेणु इस सीमा तक न जा सकती थी। लोक-लज्जा का भय, माता का डर, ऊपर से स्त्री होने का दैवी अभिशाप! पर ऊपर से दोनों चाहे जितने अंतर पर हों, भीतर-ही-भीतर उनके हृदय अज्ञात रूप से एक हो रहे थे। दोनों समझते थे, अनुभव करते थे कि इस प्रेम का अन्त बड़े भीषण रूप में होगा, निराशा, वियोग और परिताप की दुःसह ज्वालाएँ उन्हें जला डालेंगी। पर वे विवश थे। प्रेम हृदय का सौदा है और हृदय पर अधिकार रखना बिरले ही व्यक्तियों के मान की बात है।

गर्मी के झुलसानेवाले दिनों में जिन्होंने काशी के दशाश्वमेध-घाट की संध्या-समय शोभा देखी है, वे जानते हैं कि दिन-भर के परिश्रम से थके बाबू लोग किस प्रकार उस ओर भागे जाते हैं। सुरेश अब तक घर में बैठा था। किन्तु जब माता घर के काम-धन्धों में लग गई और बहन पुस्तक लेकर बैठी, तो वह भी बैठे-बैठे ऊब उठा। सोचा, कहीं घूम आऊँ। कपड़े पहने और आइने के सामने खड़े होकर बाल ठीक करने लगा। मालती ने देख लिया और टोक बैठी—"भैया, कहाँ जा रहे हो? चौक जाना, तो मेरे लिये लेस लेते आना, पैसे पीछे दे दूँगी।

सुरेश को उसका टोकना जाने क्यों इस समय बुरा लगा। खीझकर बोला—"मल्लो, मैंने कह दिया है, मेरे घूमने जाने के वक़्त मत टोका करो। मालूम नहीं, तुम्हें क्या हो गया है कि ठीक ऐसे ही समय बोल उठती हो। लेस मँगाना हो, तो पैसे दो, मेरे पास इस वक़्त नहीं हैं।"

मालती ने जाकर अपना संदूक़ खोला, लेस के लिये चार आने पैसे लिए। उसी समय उसे कुछ खयाल आया, और चार आने और निकाल लाकर बोली—"लो न, बिगड़ते क्यों हो? चार आने की लेस लाना, और ये चार आने लो अपने ख़र्च के लिये!"

सुरेश खिल उठा। स्नेह की प्रतिमा मालती इस समय उसे देवी-सी जान पड़ी। वह मालती को प्रेम की दृष्टि से देखता हुआ बाहर निकल आया। ओह! मालती उसे कितना प्यार करती है! घर में एक मालती ही ऐसी है, जिसके सामने जाते ही उसकी सारी पीड़ाएँ, व्यथाएँ और वेदनाएँ शांत हो जाती हैं। मालती ही उसकी स्वर्गवासिनी माता की चिह्न-स्वरूप इस पृथ्वी पर बच गई थी। माता का प्यार, स्नेह और सुखद गोद क्या वस्तु है, इसका उसे पता न था। जब कुछ समझने लायक़ हुआ, तभी से सौतेली माता के क्रूर शासन में उसका जीवन बीत रहा है, और इसी ने उसे जैसे इतना शुष्क, एकाकी बना दिया है। माता नामधारी कोई भी जीव इतना कठोर, कपटी और हृदय-हीन हो सकता है,

इसका अनुभव अब उसे कुछ-कुछ हो रहा था। उस निर्दयता, निर्ममता और कठोरता के वातावरण में मालती ही उसका आधार थी, हृदय थी, और प्राणों से बढ़कर प्यारी थी।

बाहर आने पर सुरेश ने जो देखा, उससे उसकी चौक जाने की इच्छा न रह गई। देखा, बाल खुले हुए, एक महीन खद्दर की साड़ी शरीर पर खिलती हुई, हाथ में फूलों की डलिया लिए उसकी रेणु इसी ओर आ रही है। वह एकटक उस ओर देखने लगा। सुरेश लाज से गड़ गया, सोचा, वह मुझे कितना पतित समझती होगी! वह बाग में चला आया, और शिवालय के द्वार पर बैठ गया। स्वप्नों का जाल उसे उलझाने की चेष्टा करने लगा, और वह चुपचाप उस सुनहरे जाल में फँसने-सा लगा। उपवन के बीच में स्थित उस छोटे मंदिर की सीढ़ियों पर बैठे-बैठे सुरेश ने देखा, उसके स्वप्नलोक की रानी आ रही है। सोने के रंग पर हरी खद्दर की साड़ी ऐसी खिल रही है, जैसे कमल के फूल को हरे-हरे पत्तों ने ढक लिया हो। वह आत्मविस्मृत-सा होने लगा, सारा संसार उसकी आँखों से दूर हटता जाता था। केवल एक मूर्ति अधिक स्पष्ट, अधिक मृदु, अधिक सजीव होती जाती थी, और वह मूर्ति रेणु की थी। वह आई, शिव की पाषाण-प्रतिमा को नमस्कार किया, फूल चढ़ाए, और जाने लगी। सहसा सुरेश जैसे सोए से जाग उठा, उसी खोए की-सी दशा में उसके मुख से काँपते शब्द निकले—"रेणु!"

रेणु ठिठक गई, पीछे घूमकर बोली—"कौन, सुरेश बाबू! बोलो।"

सुरेश—"ज़रा यहाँ आओ।"

रेणु समीप आई। ठंडी हवा का एक हलका-सा झोंका आया, और उसने डलिया के फूलों की महक चुराकर एकबारगी उड़ा दी। सुरेश और भी सुध-बुध खो बैठा। उसने धीरे से रेणु का हाथ पकड़ लिया।

सुरेश—"रेणु, क्या सदा यही दशा रहेगी? सारे संसार से छिपकर, डरते-डरते आपस में मिल लेने में क्या सुख है, मैं नहीं समझता। मैं क्यों तुम्हारी ओर खिंचता हूँ, इसका जवाब मेरे दिल से पूछो, पर शायद वह भी बतलाने में असमर्थ होगा। हाँ, इतना जानता हूँ, अपने हृदय के समस्त प्यार और कोमलता के साथ मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। यदि तुम न पार लगाओगी, तो मेरी नाव किधर बह जायगी, नहीं कह सकता। तुम अपनी माता से स्पष्ट कह दो—'मैं सुरेश को प्यार करती हूँ!'"

रेणु का चेहरा लाज से लाल हो उठा, कपोल अरुण हो उठे। अपनी माता से यह बात कहनी होगी, इसकी स्वप्न में भी उसने कल्पना न की थी। वह सुरेश से प्रेम करती थी, किंतु वह गुप्त था। ज्वालामुखी में अग्नि-शिखाएँ थीं अवश्य, पर बुझी हुई। उसने यह सोचा भी न था कि कभी ऐसा भी अवसर आ सकता है, जब यह प्रेम प्रकट हो उठेगा,

और चार आदमी इसे जान लेंगे। शर्मीली आँखों और सकुचते हृदय से बोली—"तुम कहते क्या हो सुरेश बाबू! मा से यह बात मैं कैसे कहूँगी—कह भी सकूँगी? ये बातें क्या बड़ों से कहने की होती हैं?"

सुरेश इस एक ही उत्तर से निराश हो गया। आज उसके मुख से यह सुनकर वह जाने क्यों हतोत्साह हो गया। वह कुछ-कुछ समझने लगा, रेणु से इस जन्म में नहीं मिल सकेगा। उसने एक लंबी, गहरी ठंडी साँस ली, और दूसरी ओर मुँह कर लिया। बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदें उसकी आँखों से ढुलक पड़ीं। उसका इतने दिनों का निर्मित आशा का स्वर्ण-भवन आज धूल में मिल गया। जिस खिलौने को वह अपना समझे हुए था, जिसे इतने दिनों तक सूम के सोने की भाँति हृदय के एक सुरक्षित कोने में छिपाए हुए था, वही अपना अब बेगाना होता जा रहा है। न रेणु अपनी माता से कहेगी, न मिलना संभव होगा। सुरेश तो पिता से जला बैठा है, वह उनसे कहेगा नहीं। उसका वह मन, जो अभी तक वायुयान पर उड़ा-उड़ा फिरता था, अब पृथ्वी पर पड़ा प्रेम की भिक्षा माँग रहा था।

रेणु ने सुरेश की यह दशा देखी, और पानी-पानी हो गई। आँचल से आँसू पोंछे, और बोली—"छिः, तुम रोते हो! मर्द होकर रोना तुम्हें शोभा नहीं देता। क्या विवाह करके ही हम मिल सकते हैं? विवाह ही प्रेम की सार्थकता

है ? विवाह का मूल्य तो शरीर है। आत्मा का बंधन प्रेम है, क्या यह तुम्हीं ने नहीं सिखाया है ? यदि ईश्वर कोई है, तो उसके यहाँ हम पूर्ण रूप से स्वतंत्र होकर मिलेंगे। मैं अब जाती हूँ, तुम रोना मत !"

वह चली गई। सुरेश जब वहाँ से चला, उसकी छाती पर जैसे सिल रक्खी हुई थी। ईश्वर के यहाँ मिलने के भरोसे वह अपना इह जीवन रोते-रोते बिताए, यह उसे जाने कैसा लगता था ! वह उड़कर रेणु तक पहुँच जाना चाहता था, पर उसकी दशा ठीक उस पक्षी की तरह थी, जो पींजरे में बंद है, और उड़ना चाहता है, किंतु पाँवों में रेशमी डोरी बँधी रहने के कारण पींजरे में ही फड़फड़ाकर रह जाता है।

(२)

लाला हरिशंकर का थोड़ा-सा परिचय हम पहले प्रसंग-वश दे चुके हैं। उन्हें यदि रुपयों का आदमी कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। संसार से धीरे-धीरे उदासीन होते रहने पर भी वह चाँदी के गोल टुकड़ों का मोह न छोड़ सके। रुपए उन्हें प्राणों से बढ़कर प्यारे थे। ये रुपए कितनों को रुलाकर उनकी जेबों तक पहुँचते थे, इसे सोचने का उनके पास समय न था। समय भी था, तो आवश्यकता न थी। ऐसी साधारण बातें सोचने में वह अपने बहुमूल्य समय का अपव्यय नहीं करना चाहते थे। उनके जीवन का मूल-मंत्र थोड़े में था—धनोपार्जन। चाहे वह फिर कैसे भी हो। चाहे उससे कोई सुखी हो, चाहे किसी ग़रीब का सर्वनाश हो जाय। अफ़सरों को डालियाँ लगाते थे, दावतें देते थे, और उनके घर आने पर उनकी लेडियों के जूते तक साफ़ करते थे। इस तरह वह अफ़सरों की निगाह में स्वामिभक्त, राजभक्त और ऊँचे बने रहना चाहते थे।

यहाँ तक तो ठीक था, पर जब सुरेश के लिये वह एक नई अम्मा ले आए, तो सुरेश से यह नहीं सहा गया। आख़िर वह भी तो कोई है! लेकिन लाला को जैसे इसका बोध ही नहीं। नई पत्नी के माया-जाल में ऐसा

फँसे कि लोक-लाज भूल बैठे। उसने उन पर जादू डाल जैसे उनकी सारी मति ही हर ली। अब वह हर तरह से उसी के हो गए। सुरेश क्या कर रहा है, उसने खाया या नहीं, उसके पास कपड़े-लत्ते हैं या नहीं, जैसे लाला इन सबसे निश्चिंत हो गए। उनके लिये रह गया केवल दिन-भर अदालत का कटु कोलाहल-पूर्ण वातावरण और रात-भर महादेई की उचित-अनुचित बातों का परिशीलन। वह अपनी नई स्त्री को देवी मान बैठे थे। वह ऐसी नीति-कुशल और चालाक थी कि इनके सामने तो सुरेश के लिये प्राण तक देने के लिये तैयार थी, पर इनके ओट होते ही दुधारी तलवार थी। सुरेश अपनी सारी बुद्धि लगाकर भी इस पहेली को न समझ सका। यह जितना ही दबता था, उतना ही वह प्रचंड होती। यह जितना ही विनय से रहता, वह उतना ही उग्र रूप दिखाती। यह जितना ही समीप आने की चेष्टा करता, उसके दुर्व्यवहार उतना ही इसे दूर-दूर रहने को बाध्य करते। अंत में, ऐसी दशा में, जो स्वाभाविक है, वही हुआ। सुरेश के हृदय में पिता के प्रति अश्रद्धा के भाव जाग्रत् हुए। वह मेरे पिता हैं। यदि वह मेरी चिंता नहीं करते, उन्हें मेरा ध्यान नहीं, तो मैं क्यों उन्हें पूजता फिरूँ ? मैं ऐसा अंध-भक्त नहीं हूँ। वह तो मुझे लातों से ठुकराएँ, और मैं उनके तलुओं को सुहलाता रहूँ ! पिता हैं, तो पिता का व्यवहार होना चाहिए। वह तो उस मायाविनी के फंदे में फँसकर मुझसे अजनबी-जैसा व्यवहार करें, और मैं

कोल्हू के बैल की तरह चुपचाप सहता रहूँ, चूँ भी न करूँ। माफ़ कीजिए, ऐसा सहनशील कोई दूसरा होगा।

लाला हरिशंकर दो भाई थे, कृष्णशंकर इनसे छोटे थे। उनका भी विवाह हो चुका था, इसलिये आए दिन घर में लड़ाई झगड़े, बमचख़ का बाजार गर्म ही रहता। देवरानी-जिठानी में कभी नहीं पटती। यदि दुर्भाग्य से दो सगी बहनें भी एक घर में देवरानी-जेठानी के रूप में आ जायँ, तो दोनो एक दूसरे की घोर शत्रु हो जायँगी। यही दशा यहाँ भी थी। कृष्णशंकर की स्त्री कुंदन का लालाजी की स्त्री महादेई के विषय में यही मत था। इसने बढ़ते-बढ़ते बड़ा भीषण रूप धारण किया, यहाँ तक कि भाइयों का मन भी एक-दूसरे के प्रति खट्टा होने लगा। अभी तक दोनो दूध-पानी की तरह मिले हुए थे, कृष्णशंकर लालाजी पर देवता-जैसा विश्वास करते थे, पिता मानते थे, पर इस मनमुटाव ने एक दूसरे को अलग अलग रहने के लिये बाध्य किया। वे भली भाँति जानते थे, समझते थे कि इस दुःखप्रद गृह-कलह का सारा दायित्व स्त्रियों के सिर पर है। अब भी अवसर आने पर वे दूसरे के लिये सिर तक कटाने को निःसंकोच प्रस्तुत हो जाते, पर हरिशंकर ऐसे गुलाम बने हुए थे, जो चूँ नहीं कर सकते। स्त्री ने उन्हें पूरा-पूरा पंगु बना डाला था। वे आपस में दिल की सफ़ाई करना चाहते थे, पर कर नहीं पाते थे। ताली एक ही हाथ से नहीं बजती। युद्ध एक पक्षीय

होना असंभव है, उसी प्रकार सन्धि भी एकांगी नहीं हो सकती। कृष्णशंकर के सतत प्रयत्न ने भी उन्हें घर में पुनः सुख-शांति लाने में समर्थ न होने दिया। दोनो भाइयों का भोजन-पान अलग हो गया, धीरे-धीरे घर-द्वार भी अलग-से होने लगे। पर इन सबमें बड़ी महारानी महादेई का ही हाथ था, उसके नीति-कुशल होने के कारण कोई इसे भाँप नहीं सकता था।

स्त्रियों में अधिक उसे कौन मानता-जानता है, यह जानने की सुरेश ने कभी चेष्टा नहीं की। वह चाहता भी नहीं था। वे अपने अंदर एक बड़े भारी रहस्य को लिए जान पड़ती थीं। उनके हृदय ऐसे पाठ थे, जिन्हें पढ़कर भी वह नहीं समझ सका। पर हाँ, छोटी महारानी कुंदन को जान पड़ता था, मानो विशेष स्नेह की दृष्टि से देखती हैं। जहाँ महादेई अपना काला हृदय और कठोर मुद्राएँ लेकर उसके सामने आतीं, वहाँ कुंदन हँसते हुए स्नेह की अजस्त्र वर्षा करती। उसके ऐसा करने का क्या कारण था, यह वह उस समय न जान सका। वह उस प्रेम-सागर में बहा चला जा रहा था, किस किनारे लगेगा, इसकी उसे चिंता न थी। प्रेम का आधार मिलने पर मनुष्य ज्वालामुखी में भी कूद सकता है।

कुंदन सुरेश से दो वर्ष बड़ी थी, किंतु सौंदर्य ने मानो उसकी अवस्था की अधिकता को दबा दिया था। खड़ी होने

पर वह सुरेश से नाटी ही पड़ती थी। बड़े घर की बेटी थी, शाहाना तबियत पाई थी, अतः उसका इस घर से न पटना स्वाभाविक था। वह दिल खोलकर खर्च करती, अच्छे कामों में उसने रुपए का मुँह न देखा, ठाट से रहती, इसीलिये महादेई उसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखती। कारण प्रत्यक्ष था। महादेई एक गाँव के साधारण परिवार की कन्या थी, जहाँ शासन और नियंत्रण अधिक था। यहाँ आकर बन गई राजरानी, जिस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं, और पति तक जिसके चरण पूजते थे। जन्म-दरिद्र को सहसा अतुलनीय वैभव मिल जाने पर उसका मस्तिष्क पागल न हो उठे, यही आश्चर्य की बात होगी। जब कुंदन ने देखा, सुरेश से सारा परिवार खिंचा रहता है, उसे घर में कोई पूछता भी नहीं, उसे सुरेश से स्वाभाविक स्नेह हो गया। वह स्कूल से आकर बैठक में बैठा रहता, कोई उसे जल-पान को भी न पूछता। वह रात में नंगी खाट पर करवटें बदलता रहता, तो उसे आंतरिक पीड़ा होती। उसका सारा स्नेह जैसे सुरेश पर बरस पड़ना चाहता था बेचारा कितना असहाय है, कोई अपना कहे जाने योग्य नहीं। मा है, वह पिशाचिनी; बाप है, वह जादूगरनी के फंदे में पड़कर पुत्र को पुत्र नहीं समझता। जब मा-बाप ही अपने न हों, तो संसार में कौन किसका होता है! वह सोचती, मैं तो उससे बड़ी हूँ, पर जब वह मुझे चाची कहता है, तो मैं लाज से गड़-सी जाती हूँ। मुझसे जहाँ तक

हो सकेगा, उसकी सेवा करूँगी, भले ही कोई बुरा माने। मैं कह नहीं सकती, मैं क्यों उसकी ओर खिंचती हूँ।

गर्मी के दिन थे, संध्या धीरे-धीरे होती आ रही थी। सुरेश जब पांच बजे स्कूल से लौटा, तो उसका सिर तवा-सा जल रहा था। चेहरा लाल हो आया था। किताबें बैठक में मेज़ पर पटक वह चौकी पर लेट गया। उसे इस समय लगभग १०३ डिग्री बुख़ार था। पास ही आँगन में महादेई बैठी किसी अति गंभीर विषय पर महरी से वाद-विवाद कर रही थी। कुन्दन बैठी तमाशा देख रही थी। दोनो ने सुरेश को लड़खड़ाते पैरों कमरे में जाते, पर महादेई ने उधर ध्यान देने की आवश्यकता न समझी। कुंदन को जैसे चोट लगी, उठी और सुरेश के पास आकर बोली—"कैसा जी है सुरेश बाबू, चेहरा क्यों लाल हो रहा है?"

सुरेश ने कष्ट से कहा—"ठीक है चाची, ज़रा एक गिलास पानी तो दो।"

कुंदन तुरंत गई, अपने कमरे की सुराही से गिलास-भर पानी लाकर सुरेश को देती हुई बोली—"पानी पीकर चलो मेरे कमरे में। यहाँ इस कड़ी चौकी पर तुम्हें कष्ट होगा।"

फिर माथे पर हाथ धरकर बोली—"अरे, तुम्हें तो ज़ोर का बुख़ार चढ़ा हुआ है! स्कूल से चले आए होते। जब बुख़ार था, तो गए ही क्यों? चलो भैया, जल्दी ऊपर चलो। मैं यहाँ तुम्हें न रहने दूँगी। उठो।"

और, इतनी देर में महादेई ने क्या किया ? महरी के साथ अपनी समस्त वाक्-शक्ति व्यय करके उठी, और चुप-चाप बैठक के द्वार पर आकर खड़ी हो गई, मानो सामने जो कुछ हो रहा है, वह उसकी सेवा अथवा परिचर्या की अपेक्षा नहीं रखता। केवल शासन और कठोरता के सूत्र को हाथों में लेकर उसे इस विश्व में चलना है, किसी के साथ मिलकर रहने से किसी से अपनापा जोड़ने से, किसी के दुःख पर दो बूँद आँसू गिरा देने से उसकी मर्यादा भंग हो जायगी, मान के ऊँचे पद से नीचे गिर जायगी। उसने कुंदन के शब्द न सुने हों, यह बात न थी, पर उसका पाषाण-हृदय न पसीजा। वह किन वस्तुओं से बनी थी, यह तो हम नहीं कह सकते, पर प्रेम, दया, मातृत्व, वात्सल्य और दूसरों के लिये वेदना का उसके समक्ष जैसे कोई मूल्य ही न था। आश्चर्य तो इस बात का है कि वह स्वयं दूसरों से इन सद्‌गुणों की आशा रखती थी। यही कारण था, उसकी किसी से नहीं पटती थी। उसका संसार अपना अलग था, जहाँ प्रेम के नाम पर द्वेष, दया के नाम पर कठोरता, मातृत्व के नाम पर स्नेह-विहीन स्वार्थ, वात्सल्य के स्थान पर रूखे प्रेम-प्रदर्शन और दूसरों के लिये वेदना के स्थान पर गर्व-मिश्रित उल्लास का राज्य था। वह अपने राज्य की आप ही अकेली रानी थी। अपने शासन में वह किसी तरह का अवरोध सहन नहीं कर सकती थी। पति तक तो उसके मोहन मंत्र के अधीन थे। सुरेश का युवक

हृदय यह स्नेह-विहीन अधिकार-सत्ता मानने को कदापि तैयार न था। उसका मन इस स्वार्थ-पूर्ण व्यापार को स्वीकार न करता था। महादेई और सुरेश में इसी कारण कभी नहीं पटी। सुरेश उसके षड्यंत्रों में भाग नहीं लेता था। यदि वह कभी ऐसी चर्चा छेड़ भी देती, तो वह उठकर चला जाता। उसने महादेई को समझने की सतत चेष्टा की, पर असफल रहा। उसे जानकर भी वह न जान सका। असहयोग के इस वातावरण में से, परिवार के ऊपर छाई हुई अमावस्या की काली रात के अंधकार में से उसने प्रकाश पाने की अनवरत चेष्टा की, पर समस्या और भी जटिल होती गई, पहेली और भी अबूझ बनती गई।

कुंदन ने सुरेश को ऊपर, अपने कमरे में पहुँचाया। सूर्यास्त हो रहा था। अँधेरा धीरे-धीरे फैल रहा था। कुंदन ने लैंप जलाकर कमरे में रख दिया, और सुरेश से शीघ्र आने को कह नीचे चली गई। अंधकार की छाती चीरकर प्रकाश की किरणें इधर-उधर फैल गईं। उस सजे-सजाए कमरे में दुग्ध-फेनिल शय्या पर पड़ा हुआ सुरेश सोचने लगा—चाची क्यों मुझसे इतना स्नेह करती हैं ? मैं उनका कौन हूँ, कोई भी तो नहीं! महादेई तो मेरी माता बनकर इस घर में आई है न! दुनिया तो मुझे उसका पुत्र ही समझती है। किंतु ओह! वह पिशाचिनी है। जाने कैसे मनुष्य-रूप में पृथ्वी पर उतर आई है! मायाविनी, जादूगरनी, छलिया........।

वह अभी जाने क्या-क्या सोचता रहता, किंतु उसकी विचार-धारा भंग हो गई। नीचे महादेई किसी को सुनाकर कह रही थी—"अपने को तो बेटे का मुँह देखना नसीब ही नहीं है। दूसरों से ही साध पूरी कर ले बेचारी! ऐसा न करेंगी, तो जो कुछ माल-खज़ाना वह लावेगा, मिलेगा कैसे? बड़ी दरदवाली बनी हैं।"

सुरेश ज्यादा न सुन सका। किसी तरह गिरते-पड़ते द्वार तक गया, और क्षीण कंठ से बोला—"अम्मा, किसे कह रही हो! कौन किसका बेटा है!"

और, इसके बाद? इसके बाद का वर्णन करना हमारे लिये कठिन है। संक्षेप में यही समझ लें कि उस दुर्बल, ज्वराक्रांत, सुशील बालक से महादेई ने बहुत देर तक कहा-सुनी की, बक-झक करती रही, और मूर्च्छितावस्था में महरी ने लाकर उसे यथावत् पलँग पर डाल दिया। महादेई गालियों का पारायण करती ही रही, और कुंदन सुनती ही रही।

---

(३)

मोटर से नीचे उतरते हुए मालती ने कहा—"हाँ, तो मोहन बाबू, जीवन तुम्हारे लिये केवल विनोद ही है न ? एक विशाल रंगमंच के हम अभिनेता हैं। हम आते हैं, अपना-अपना अभिनय करते हैं, और दर्शकों को ज्यों-का-त्यों छोड़कर जहाँ से आए हैं, वहीं चले जाते हैं। यही तो तुम्हारी जीवन की परिभाषा है न ?

मोहन अब तक नीचे उतर चुका था। सिगरेट सुलगाते हुए बोला—"मालती, जीवन को हम विनोद के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं ? क्या चुपचाप चले आना और चुपचाप चले जाना विनोद नहीं ? यह जो हम सुख-दुख के भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को व्यक्त करते हैं, यह जो अपने को सबसे अधिक प्रकट रखने की हमारी मनोवृत्ति है, यह जो रोते रहने पर भी मुख पर मुस्किराहट लाने का हमारा बरबस प्रयास है, वह हमें विनोद की शतोमुखी धारा की ओर नहीं ले जाता ? और यदि नहीं ले जाता, तो क्या हमें ले जाने का प्रयास न करना चाहिए ? मैं यही कहता हूँ,

मालती के जीवन में दुःख है, और उसके अस्तित्व को भुलाया भी नहीं जा सकता। किंतु हमें बरबस उसे भूले रहना होगा।"

मालती ने अब तक जीवन के जिस पहलू से परिचय पाया था, वह काला था, और यही कारण था कि वह स्वभावतः धर्मभीरु, विरागी तथा आत्मसीमित थी। वेदना की अमराइयों में उसके हृदय की कोकिला कूक-कूककर शांत हो चुकी थी। यह बात न थी कि जीवन के इस शाश्वत विराग के क्रम से उसे आंतरिक संवेदना हो, उसमें घुले-मिले रहने में उसे सुख प्राप्त होता हो, पर वह बरबस यह साधना अपने जीवन के साथ लपेटे हुए थी। अभागिन, मातृहीना बालिका यह भली भाँति जानती थी, उसे तितली की भाँति उड़े-उड़े फिरने में उपहास के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। वह रोती थी, पर अपने आँसुओं से भीगी धोती छिपाए रहती थी। वेदना के साथ जैसे उसे स्वभावतः मित्रता हो गई थी। मोहन सुरेश का एक मित्र था, जीवन को दूर-दूर से ही, ऊपर-ऊपर से ही देखनेवाला। वह मालती के हृदय की इस गति-विधि को जानता था, और उसे बहलाए रहने की चेष्टा करता था, पर करुणाभिभूत मानस के ऊपर पूर्ण रूप से विजय नहीं पाता था। मालती के हृदय में मोहन के लिये बस इतने ही भाव थे कि वह उसके भाई सुरेश का मित्र है। इतना अवश्य है कि उसकी बातों में से उसे एक प्रकार का अपनापा-सा ज्ञात होता था। उसकी उपस्थिति से उसे

एक आत्मिक संतोष, एक हृद्गत सुख की अनुभूति होती थी, जिसे वर्णन करना उसके लिये कठिन था।

टहलते हुए दोनो बाग़ में आए। घने वृक्षों के ऊपर संध्या उतर आई थी। क्षितिज ने एक बार पुनः रक्त परिधान धारण कर लिया था। मोहन ने एक बेंच पर बैठते हुए कहा—"मालती, संध्या कितनी सुंदर है!"

मालती, जो अब तक पुनः अन्यमनस्क हो चुकी थी, बोली—"हाँ, मोहन बाबू, संध्या बड़ी सुंदर है!" और तभी उसके वक्ष पर का उठता-गिरता अंचल तप्त निःश्वास से लहरा गया। मोहन ने अनुभव किया, जैसे उसका एक-एक रोम पुकारकर कह रहा है कि यह सुंदरता मेरे लिये नहीं। जिसका अपना कोई नहीं, जिसका प्यार लूटनेवाला कोई नहीं, जिसके दिल की दुनिया का स्वामी कोई नहीं, उसके लिये यह समस्त सुख के प्रसाधन, सौंदर्य के बिखरे हुए ज्योति-कण निस्तत्त्व हैं।

मोहन का युवक हृदय द्रवीभूत हो गया। उसने एकबारगी ही मालती के हाथों को पकड़ लिया, और बोला—"मालती, यह क्या? यह उदासी कैसी? तुम्हारे हृदय में यह आग कैसी सुलग रही है?'

मालती का रोम-रोम एक नवीन स्पंदन से भर उठा। नस-नस में एक पुलक सिहर व्याप्त हो उठी। उसे ऐसा ज्ञात हुआ, जैसे जीवन का एक क्षण सबसे अधिक मनोहर बनकर उसके

सामने आया है। वह अभी सँभल भी न पाई थी कि एक नौकर ने आकर सूचना दी—"सुरेश को ज्वर हो आया है, और वह उसे देखना चाहते हैं।" निमेष-मात्र में ही वह उस स्वर्ग से पतित हो गई। तुरंत ही मोहन से हाथ छुड़ाकर उठी, और बोली—"आइए मोहन बाबू, भैया को देख लीजिए।"

रात के नौ बजे होंगे। गर्मी की रात, कमरे की सब खिड़कियाँ खुली हैं। मकान की तीसरी मंज़िल पर यह कमरा है, साफ़-सुथरा, लिपा-पुता, सब चीज़ें क़रीने से सजी हुई। एक ओर टेबुल पर लैंप जल रहा है। उस ओर एक छोटी-सी मेज़ है, जिस पर कागज़-पत्र पड़े हैं। दो-तीन कुर्सियाँ हैं, जो मेज़ की बगल से सटाकर रक्खी हुई हैं। दरी का फ़र्श है, दरवाज़े पर हरा पर्दा लटक रहा है। हिंदू-देवी-देवतों के बड़े-बड़े चित्र लगे हैं, जिन्हें देखकर हृदय एकबारगी श्रद्धा से भर जाता है। मोहन चला गया है, और मालती अपने कमरे में जाकर सोने का उपक्रम कर रही है।

कुंदन धीरे-धीरे कमरे में आई। सुरेश आँखें बंद किए, मस्तक पर हाथ रक्खे सीधे लेटा हुआ था। पैर की आहट पाकर उसने आँखें खोल दीं। मोह और ममता की मूर्ति कुंदन बड़ी विलक्षण दृष्टि से उसे निहार रही थी। उसका सारा स्नेह जैसे सुरेश पर ही केंद्रीभूत हो गया था। सुरेश को उस एक ही दृष्टि में सब कुछ मिल गया। प्रेम, दया, ममता और वात्सल्य का उसमें ऐसा मेल था कि वह सिर से पैर तक कंटकित

हो उठा। ऐसी दृष्टि से उसे कभी किसी ने न देखा था, अब तक के जीवन में उसे केवल कड़ी और वक्र निगाहों से ही साबिक़ा पड़ा था। कुंदन उसके सिरहाने बैठ गई, और सिर पर हाथ फेरने लगी। हवा के एक हल्के-से झोंके से हर पर्दा हिल उठा, और लैंप की लव भी कुछ डोल गई। कुंदन को सहसा कुछ सूझा, वह सोचने लगी—मैं क्या कर रही हूँ, कहाँ जा रही हूँ, किधर जा रही हूँ, इसका क्या अंत होगा ? वासना की आग मेरा तन-बदन जला डालेगी, और यह भोला-भाला युवक अनजाने ही मेरी काम-लिप्सा का शिकार बनेगा। मैं उसकी आँखों में क्या रह जाऊँगी, संसार की आँखों में क्या रह जाऊँगी ? मान लो, संसार की आँखों पर पर्दा डाल दूँगी, पर ईश्वर के आगे क्या उत्तर दूँगी ? किंतु मैं कर भी क्या सकती हूँ ? नहीं कह सकती, उसमें क्या है, जो मुझे उसकी ओर आकर्षित करता है। वह मुझसे छोटा है, पद में भी छोटा है। यही नहीं, मेरा पुत्र है। इस पवित्र और गौरव-मय पद को मैं यों वासना के कीच में घसीट रही हूँ। इसका उत्तरदायी कौन है ? सारा संसार एक स्वर से कहेगा—कुंदन। बेचारा सुरेश, मैं ही उसे पाप-मार्ग की ओर ले जा रही हूँ, और वह चुपचाप आँख मूँदे, मेरा हाथ पकड़े पीछे-पीछे चला आ रहा है। नहीं-नहीं, ईश्वर कुछ नहीं है। उसके भय से अपना सुख त्याग दूँ ? अपनी सारी आशाओं, अभिलाषाओं और कामनाओं को तिलांजलि दे दूँ ? जीवन के सुनहरे दिन

यों ही उसके डर पर बलिदान कर दूँ ? यह मुझसे न होगा। मैं तड़प रही हूँ, मर रही हूँ। प्यासी हूँ, कोई मेरी अतृप्त प्यास बुझानेवाला चाहिए। वह मेरे पूज्य हैं। आदरणीय हैं। मैं उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखती हूँ। वह मेरे सुख-दुख दोनों के साथी बनाए गए हैं। बिना उनकी इच्छा के और बिना मुझसे पूछे यह हुआ है। कोरे धर्म की आड़ में दो अनजान पशु एक पिंजरे में बंद कर दिए गए हैं। मुझे उनसे प्रेम करने का स्वाँग करना पड़ता है, उनको और सारे संसार को विश्वास दिलाने के लिये कि वह मेरे पति हैं। पर मैं भीतर-ही-भीतर उनसे कितना कपट कर रही हूँ। विश्वासघात कर रही हूँ। वह बेचारे मुझ पर देवी-जैसा विश्वास करते हैं। एक मैं हूँ, जो उन्हें यों छल रही हूँ।

कुंदन जब सुरेश के सिर पर हाथ फेर रही थी, वह आँखें बद किए पड़ा था। कुंदन को विचार-मग्न देखकर उसने आँखें खोलीं। कुंदन एकटक लैंप की ओर देख रही थी। कुछ सोचते और अपने मनोभावों से निरंतर लड़ते रहने के कारण उसका मुख इस समय विचित्र-सा जान पड़ा। उसका हाथ सुरेश के मस्तक पर था आँखें लैंप पर थीं, और विचार-धारा किसी अनजाने प्रदेश में बह रही थी।

सुरेश ने कुंदन का हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा—"चाची, क्या सोच रही हो ? तुम्हें ऐसा उदास तो कभी नहीं देखा था। शायद तुम्हें मालूम होगा कि इस घर में सबसे

अधिक मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। कह नहीं सकता, क्यों? जहाँ इस घर के और लोग मुझसे दूर-दूर रहने की चेष्टा करते हैं, वहाँ तुम मुझे आस-पास आती जान पड़ती हो। तुममें मुझे अपनी माता की मूर्ति दिखाई देती है, जो स्वर्ग से उतरकर अपने पुत्र की सेवा कर रही हो। तुमने मुझे सब कुछ दे दिया। जिस समय घर की निर्ममता और कठोरता से ऊबकर मैं अनजाने पथ पर चला जा रहा था, प्यार और प्रेम के लिये व्याकुल मेरी आत्मा जिस समय किसी स्नेही की खोज में जाने कहाँ-कहाँ भटक रही थी, उस समय तुमने न-जाने किस लोक से आकर मुझे हाथ पकड़कर उबार लिया। मैं तुम्हारा आजन्म कृतज्ञ रहूँगा। तुम क्यों उदास हो मा?"

कुंदन को ऐसा लगा, जैसे उसके हृदय को कोई कुरेद रहा है। सुरेश ने उसे मा कह दिया था, जैसे वह हिमालय की चोटी से गहरे गह्वर में गिर पड़ी हो। उसके हृदय में इस समय मातृत्व का उदय हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो सुरेश उसका सगा पुत्र है, और मा-मा कहकर उसकी गोद में आने को छटपटा रहा है। वह न रुक सकी, उसे ऐसी ग्लानि हुई कि फूट-फूटकर रोने लगी। सुरेश ने उसे रोते देखकर चुप कराने की चेष्टा की, पर असफल रहा। उसकी गोद में सिर रखकर वह लेट गया, और आँखें बंद कर लीं। कुंदन की अंतरात्मा चिल्ला उठी—मैं पापिनी हूँ, मैं विवाहिता हूँ, मेरे

पति हैं, उनके साथ ऐसा विश्वासघात ! आह ! मेरा मन अब भी उन चरणों में लिपट जाना चाहता है, उन श्री-चरणों की धूलि बनना चाहता है, पर मैं नहीं कह सकती कि इस कलुषित मन को लेकर मैं कैसे उनकी ओर देख सकूँगी। पर यह क्या ? मैंने उनके साथ कोई विश्वासघात नहीं किया। वह मेरे लिये आदर एवं श्रद्धा की वस्तु रहे हैं, और रहेंगे। आदर, श्रद्धा और प्रेम ये भिन्न वस्तुएँ हैं। जिसका हम आदर करें, जिसकी हम श्रद्धा करें, जिससे हम डरें, उससे हम स्नेह कर ही कैसे सकते हैं। भय और प्रीति एक ही स्थान पर कैसे रह सकते हैं। जिसके जी में जो आवे, कहे-सुने, मैं मन को नहीं बाँध सकती। मेरे नाथ ! देवता ! मुझे क्षमा कर दो। मैं तुम्हारे-जैसे व्यक्ति के योग्य न थी। तुम साधु हो, देव हो। तुमने मुझे अपनी जीवन-संगिनी बनाया था, पर आह री वासने ! तूने मुझे कहीं का न रक्खा। अच्छा, ले चल, चलूँगी। तुझे मैं पूर्ण रूप से गले लगाने को तैयार हूँ। मुझे सुख प्यारा है, मैं सुख की गोद में पली हूँ। मैं तपस्विनी बनकर नहीं रह सकती।

कुंदन मनोभावों की उग्रता के कारण मूर्च्छित हो गई। सुरेश की बग़ल में निश्चेष्ट पड़ गई। सुरेश ने आँखें खोलीं, यह देखकर, खाट से उठकर कोच पर जा लेटा।

इसी समय रेणु और मालती इधर-उधर देखती हुई कमरे में आईं। दोनो की अवस्था में कोई विशेष अंतर तो था

नहीं, साथ-साथ खड़ी होने पर क़द भी बराबर ही था। दोनो एक दूसरे की प्रतिच्छाया-सी मालूम होती थीं। दोनों दो मनोभावों को लेकर कमरे में आईं। मालती का हृदय मातृप्रेम से छलक रहा था, रेणु का हृदय अपने उस चिर-परिचित प्रेमी को अपने में छिपा लेना चाहता था, जिसे उसने उस दिन निराश कर दिया था। उसका मन अपनी उस दिन की नादानी पर पछता रहा था। सुरेश को चारपाई पर पड़े देख उसे अनायास ही सहस्रों बिच्छुओं के दशन-सी पीड़ा होने लगी। उसने उस दिन सुरेश को कैसा निर्मम उत्तर दिया था। वह उच्चाशा की ऊँची अटारी पर खड़ा अपने जीवन के स्वर्ण-बिहान का सपना देख रहा था, रेणु ने नींव की एक ईंट खिसकाकर भवन को भूमिसात् कर दिया। अटारी के साथ ही उसकी अभिलाषाओं का स्वर्ग भी घोर नरक में परिणत हो गया।

रेणु को इस समय अपने यहाँ देखकर सुरेश चकित हो गया। इतनी रात गए तक वह उसके यहाँ कभी नहीं रही थी। बोला—"रेणु रानी! आज इस समय यहाँ कैसे? मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। मालती, चाची को देखो, बैठे बैठे जाने क्या हो गया।"

मालती—"भैया, इसके लिये मेरी पीठ ठोंको। मैं शाम को तुम्हारे पास से होकर इनके यहाँ गई थी, माजी से बहुत कह-सुनकर आज रात-भर के लिये इन्हें यहाँ लाई हूँ। तुम्हारी

तबियत ख़राब है न, इनसे ख़ूब बातें करो । तबियत आप-ही-आप ठीक हो जायगी ।"

सुरेश की ओर देखकर बहन मालती हँस पड़ी । रेणु और सुरेश, दोनो इस व्यंग्य की सत्यता को समझते थे, अतः दोनो के सिर अनायास ही झुक गए । सुरेश बोला—"मालती, आजकल बड़ी ऊधमी हो गई है ! क्यों न ? पिटेगी ? जा, पहले चाची को खाना-वाना खिला ला ।"

मालती ने कुंदन को सचेष्ट किया, और हाथ पकड़कर नीचे ले चली । जाते-जाते कहती गई—"बहन, मेरे अच्छे-से भैया से तब तक बातें कर । बड़ी साध से लाई हूँ । आज रात-भर तुझे सोने न दूँगी । बिछावन बिछाकर आती हूँ ।"

सुरेश—"रेणु, बैठो । खड़ी क्यों हो ?"

रेणु पैर के अँगूठे से जमीन खुरचती रही ।

सुरेश—"रेणु रानी !"

रेणु—"एक बात पूछूँ, बताओगे ?"

सुरेश—"तुम्हें न बताऊँगा मेरी रानी ! एक क्या, सौ बातें पूछो । यदि सहस्र मुख होते, तो एक साथ सौ बातों का उत्तर देता, फिर भी न थकता ।"

रेणु—"मेरी उस दिन की बातों से, जान पड़ता है, तुम नाराज़ हो गए । क्यों न ?"

सुरेश—"रेणु, तुम देवी हो । जिस दिन तुम्हें पहलेपहल

देखा, उसी दिन समझ गया कि तुम मेरे लिये इस संसार में आई हो। तुमसे नाराज़ होऊँगा, हो भी सकूँगा ? मैं नहीं जानता, क्या कर रहा हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, मेरी नाव किस किनारे लगेगी! मैं तुम्हारे साथ उस लोक को चले चलना चाहता हूँ, जहाँ केवल तुम रहो और मैं रहूँ—जहाँ द्वेष, मिथ्या सामाजिक बंधन, मानापमान और बनावट का नाम न हो। रेणु, संसार अन्यायी है। उस लोक में ईश्वर की अदृष्ट छाया रहेगी। हमारा देवता प्रेम होगा, हमारा छोटा-सा संसार प्रेममय होगा। उस देश का राजा होऊँगा मैं, और सादगी तथा सरलता के भूषणों से भूषित रानी होगी मेरी रेणु!"

रेणु—"सुरेश बाबू, तुम्हारे हृदय की विशालता की सराहना नहीं हो सकती। मैं इस कृतज्ञता के बोझ से दबी जा रही हूँ। तुमने मुझे कैसे इस योग्य समझ लिया कि मैं तुम्हें प्यार करूँ, मैं नहीं जानती। मुझे तो अपनी बेबसी पर शर्म है। हमारे चारों ओर धर्म का ऐसा आडंबर है कि हम चाहने पर भी नहीं हिल सकते।"

रेणु गंभीर स्वभाव की मननशील युवती थी। वह पढ़ती तो कम थी, किंतु अपने चारों ओर के वातावरण पर मनन करती थी। यही कारण था, उसकी बातें लोगों को विद्वत्ता-पूर्ण मालूम होती थीं। इसके विपरीत सुरेश अध्ययनशील युवक था। बचपन में ही उपन्यासों की दुनिया की सैर ने तथा बड़े होने पर मासिक पत्र-पत्रिकाओं के

पर्यवेक्षण ने उसे आधुनिक समाज और धर्म की ओर से विद्रोही बना दिया था। कुछ ठहरकर बोला—"धर्म की बात चलाती हो, वह पाखंडियों का है। भोले-भाले व्यक्तियों के ठगने का ढंग है। धर्म आपस में मेल-मुहब्बत से रहना सिखाता है, एक दूसरे को गले लगाना सिखाकर विश्व-बंधुत्व का भाव फैलाता है। उसका उद्देश्य एक को दूसरे से अलग रखने का नहीं। जो समाज असमय में ही वैधव्य-व्रत का कठोर पालन करने को बाध्य की हुई कुमारियों को यौवन-जनित लालसा में तड़प तड़पकर प्राण देते देख कर पिशाचों की-सी हँसी हँसता है, जो समाज कोटि-कोटि बालिकाओं को बुड्ढे, कामुक नर-पिशाचों के साथ ग्रंथि-बंधन में बाँधकर बेचारियों से अखंड पातिव्रत का पालन देखना चाहता है, और उनकी स्वाभाविक कामनाओं की होली जलते देखकर राक्षसों की भाँति अट्टहास करता है, जो समाज दो विभिन्न जातियों के सच्चे प्रेमी-प्रेमिका को गठबंधन में बँधने से रोकता है, उस समाज का, उस धर्म का अस्तित्व अधिक दिनों तक नहीं रह सकता।"

रेणु—"यह तुम क्या कह रहे हो सुरेश बाबू!"

सुरेश—"हाँ रेणु, हमारा धर्म आजकल यही कर रहा है। धर्म आजकल हमारे लिये एक बेड़ी रह गया है, जिसमें अनिच्छा होते हुए भी हमें बँधना पड़ता है। जिस धर्म ने आज समस्त विश्व में रक्त की नदियाँ बहाई हैं, जिसने

लोगों में इतनी विषमता, इतना अनैक्य भर दिया है, उसी धर्म को मैं गले लगाए फिरूँ, यह मुझसे न होगा। धर्म बच्चों का खिलवाड़ नहीं है रेणु! वह हमारी आत्मा पर भी शासन करे, प्रेम-जैसी मुक्त और स्वतंत्र वस्तु पर भी अपनी हुकूमत चलाना चाहे, यह मैं कभी नहीं सह सकता। मैं क्रांति का उपासक हूँ। समय आ रहा है, जब धर्म और समाज के विरुद्ध एक ऐसा प्रबल आंदोलन उठ खड़ा होगा, जिसमें उसकी नींव तक हिल जायगी। एक हलकी-सी ठेस से ही वह आँधी में तिनके की भाँति उड़ जायगा।"

रेणु—"यह सब ठीक है, पर मेरे लिये तुम समाज और धर्म के नियमों की अवज्ञा करो, यह मुझसे न देखा जायगा। तुम्हें समाज से मिलकर रहना होगा। समाज से अलग होकर अपनी मुट्ठी की मिठाई तुम आप ही खाओ, यह न हो सकेगा। समाज तुम्हें नहीं छोड़ेगा।"

सुरेश—"मैं तुम्हारे लिये सब कुछ करने को तैयार हूँ रेणु! धर्म ही क्या, यदि प्राण तक छोड़ने पड़ें, तो मुझे इसमें रत्ती-भर भी संकोच न होगा। यदि धर्म में सच्चे भाव से प्रेम करना अक्षम्य अपराध है, तो मेरा सारा जीवन ऐसे धर्म के प्रति विद्रोह में बीतेगा।"

सहसा मालती आ गई। आते ही बोली—"और, उस विद्रोह को प्रदर्शित करने के लिये एक जुलूस निकलेगा, जिसकी मुखिया होंगी कुमारी मालती। मैं चाची को नीचे

सुला आई हूँ। चलो रेणु, अभी बातें खत्म हुईं या नहीं? तुम तो जैसे उठने की क़सम लेकर बैठी हो।"

रेणु को लिवाकर मालती चली गई। सुरेश एकटक द्वार की ओर देखता रह गया। मस्तिष्क में विचारों का अंधड़ बह रहा था, अविराम!

श्रीमती रमा ने अपने जीवन में पति-सुख न पाया था। जिस समय वह अपने जीवन के वसंत में थी, उसके पति उसकी गोद एक बालिका से भरकर स्वयं उसे छोड़ गए। उसने हृदय पर पत्थर रखकर यह दुख सहा, और बालिका को ही शेष जीवन का आधार मानकर अपना वैधव्य काटना चाहा। पर इसमें भी उसे बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। जब रेणु सात बरस की थी, भीषण ज्वर ने उसे अपना शिकार बनाया, और चार महीने तक वह चारपाई से न उठ सकी। रमा के प्राण नहों में समा गए थे। जिसके मोह में उसने पतिदेव की स्मृति भी भुला दी, वह भी यदि विधाता छीन लेता, तो उस अभागिन के लिये संसार में क्या रह जाता? वह पति-हीन रमणी दिन-रात एक करके बालिका की सेवा करने लगी। भूख-प्यास और नींद जैसे मुहाल हो गई थी। उसके प्राणों के लिये वह अपने प्राण देने को तैयार थी। आख़िर ईश्वर ने उसकी सुन ली, और चार महीने के घुलाने-वाले ज्वर के उपरांत बालिका ने पलँग से उठने की शक्ति प्राप्त

की। उसकी देह जैसे हड्डियों की रह गई थी। लाल गालों की आभा पीलेपन में बदल गई थी। कुछ ही दिनों में माता की स्नेहमयी गोद और ममता-पूर्ण अंचल की छाया में खेलते-खेलते वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई। किंतु अभी एक विपत्ति और आनी थी। अभी ग्यारह बरस की भी न हो पाई थी कि एक दूसरी दुर्घटना हो गई।

गरमी के दिन थे, संध्या का समय। रमा कुछ जल-पान का सामान बना रही थी। रेणु बड़े मनोयोग से धुएँ के बादल ऊपर उठकर विलीन होते देख रही थी। आँखों में कुतूहल खेल रहा था। माता ने दूध पतीली में रखकर आग पर चढ़ा दिया, और रेणु से देखने के लिये कहकर किसी काम से बाहर चली गई। रेणु बड़ी निगरानी से दूध की रक्षा कर रही थी! सहसा एक बिल्ली आई, और चूल्हे की ओर बढ़ी। रेणु ने उसे मारना चाहा। जल्दी में दमकले से उलझ गई, और सारा दूध उलट गया। जलती पतीली ऊपर आ रही, और शरीर पर छाले-ही छाले पड़ गए। माता को फिर तपस्या करनी पड़ी। अपनी रेणु के लिये उसने फिर भूख-प्यास छोड़कर जागना आरंभ किया, और महीने-भर की सजग सेवा के बाद उसे भी चंगी कर दिया।

रमा के पति कोई लखपति न थे। एक दफ्तर में हेडक्लर्क थे, और पचास रुपए माहवार उपार्जन कर लेते थे। छोटी-सी गृहस्थी पालन का इन थोड़े-से रुपयों में सहज ही हो जाता

था। घर में केवल रमा थी, और वह थे। बड़े मज़े से दिन बीत रहे थे। वह दिन-भर दफ्तर में रहते, और रमा पास-पड़ोस की बंगालिन बालिकाओं को पढ़ाया करती। वह संध्या को घर आते, तो रमा द्वार पर खड़ी राह देखती होती। चटपट हाथ-मुँह धुलाकर जल-पान कराती, और दोनो साथ ही बैठकर बातें करते। नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद में समय कट जाता। रमा अपनी इस स्थिति से संतुष्ट थी।

पर एक दिन जब वह घर आए, उनका सिर जल रहा था। रमा का माथा ठनका, वह भाँप गई। किसी भावी अनिष्ट की आशंका ने उसे व्यथित कर दिया। ज्यों-ज्यों रात बीतती गई, उनकी तबियत बिगड़ती गई। नौकर को वैद्यजी को बुलाने भेजा। वैद्यजी आए, और नाड़ी की परीक्षा कर बोले—"ज्वर बड़ा भीषण है! बड़े यत्न से पथ्य देना होगा। बच जायँ, तो अपना सौभाग्य समझो।" अस्तु किसी तरह चार दिन उसने उनकी अनवरत सेवा की, पांचवें दिन वह स्वयं अशक्त हो गई। उसी समय रेणु का जन्म हुआ। वह प्रसूति-गृह में फँस गई। उसका मन किसी तरह वहाँ से भाग निकलना चाहता था, पर नवजात बालिका की मंगल-कामना करनेवाली महिलाओं ने उसे रोक रक्खा। रोगी को उचित पथ्य न मिला। रोग और भी सांघातिक हो गया। ज्वर डबल नीमोनिया में परिणत हो गया, और रोगी के प्राण लेकर ही हटा। रेणु के जन्म के नवें दिन यह दुर्घटना हुई, और

बेचारी रमा अनाथ हो गई। उसने सिर पटककर मर जाना चाहा, पर सामने ही नन्ही-सी बालिका रेणु सो रही थी। वह रुक गई। जिस घर में अभी कुछ ही देर पहले मंगल-गान हो रहा था, वहाँ अब श्मशान की नीरवता व्याप्त थी। जहाँ चहलपहल थी, वहाँ शांति का अखंड साम्राज्य था। बेचारी रमा प्रसूति-गृह में पड़ी बिलखा करती थी।

ऐसे कुसमय में रेणु का जन्म हुआ था। बेचारी को जन्म लेते ही संसार के ताने सहने पड़े। कैसी है कि पैदा होते ही बाप को खा गई। इससे अच्छा था कि धरती ही न देखती। कहना न होगा कि इस तरह के अमूल्य वाग्बाण छोड़नेवाली वे ही देवियाँ थीं, जिनके हृदय में अंध-श्रद्धा और मिथ्या विश्वासों ने बड़े गहरे घर कर लिए थे। अभागिनी रमा रेणु की ओर देखती, और पति की याद करके रो देती। आज इस नीरवता और विषाद की कालिमा में पुत्री-जन्म का प्रकाश मंद पड़ गया है। यदि वह होते, तो यही घर आज दमकता होता, द्वार पर नौबत बजती होती, स्त्रियाँ इधर-उधर मंगल गाती फिरती होतीं। पुत्री थी तो क्या, इसे वह शापच्युता देवी-सी देखते। न-जाने कितना धन लुटाते, कितनी खुशियाँ मनाते। आज उनके न रहने से घर जैसे काटने दौड़ रहा है। कोई सीधे मुँह बात भी नहीं करता। घर जैसे एक सघन, अभेद्य अंधकार में डूब कराह रहा है। रमा आकाश की ओर देखकर चुपचाप गहरी साँस ले उठती।

पति के देहांत के कुछ दिनों बाद तक तो रमा ने किसी तरह घर का काम चलाया, पर अब उसे रुपयों की तंगी होने लगी। वह एक पुराने विचार के हिंदू-परिवार की कन्या थी, बाहर निकलकर कुछ उपार्जन करने का कौशल उसे अभी नहीं मालूम था। किसी से अपनी स्थिति कहते लाज लगती थी। कहे भी, तो किससे ? घर में नाज का एक दाना न था। उस दिन उससे न रहा गया। पास ही एक मुंशीजी रहते थे, उनके यहाँ गई। उसने सोचा था, मुंशीजी की स्त्री से अपना दुखड़ा रोऊँगी, संभव है, कुछ दे निकलें। किसी तरह आज तो इस पापी पेट की ज्वाला शांत होगी। मुंशीजी की स्त्री ने कहा—"आओ रमा, तुम तो जैसे दूज का चाँद हो रही हो! कहाँ रहती हो। इधर बहुत दिनों से दिखलाई ही नहीं पड़ीं ?"

रमा—"क्या कहूँ बहन, जब से वह नहीं रहे, सारा दिन रोते ही कटता है। एक-एक दिन पहाड़ हो जाता है। जी होता है, विष खा मरूँ, पर इस बच्ची को देखकर रुक जाती हूँ। सोचती हूँ, पिता तो अनाथ कर ही गए, मैं भी न रहूँगी, तो यह किसके पास रहेगी, कहाँ जायगी !"

रमा की आँखों से आँसू बह निकले। सहृदय चंदो न देख सकी, उसकी आँखें भी सजल हो उठीं। प्यार से उसने रेणु को अपने पास बिटा लिया, और रमा को ढाढ़स बँधाती हुई बोली—"जाने दो बहन, जो हो गया, उस पर हमारा क्या बस ! जब

भगवान् ही कुपित हैं, तो आदमी क्या कर सकता है ? तुम्हारे बस की बात थोड़े ही थी, जो तुम रोक रखतीं। वह कुछ दिनों के लिये दुनिया में आए थे, चले गए। अब उनकी याद भुला दो। पहाड़-सी जिंदगी है, रो-रोकर काटने से क्या लाभ ? बिटिया का मुँह देखो, और अपने लिये न सही, तो इसके लिये हँसो। हाँ बहन, घर का काम कैसे चलता है ? क्या कुछ छोड़ गए थे ? बेचारे क्या कुछ जमा कर पाए होंगे, हमेशा खाने-कमाने-भर को रहे "

रमा एक बार फिर खुल पड़ी। जो बात वह बचाना चाहती थी, वही सामने आ गई। आज उसे दूसरों का मुँह जोहना पड़ रहा है। पति के रहते क्या वह किसी के सामने हाथ फैला सकती थी! उसका आहत आत्मसम्मान तिलमिला उठा। बोली—"हाँ बहन, ऐसा ही थोड़ा-बहुत था, वह उनके क्रिया-कर्म और खाने-पीने में खर्च हो गया। अब कुछ नहीं है।"

चंदो—"भगवान् ने ही तुम्हारा सब खेल बिगाड़ दिया, नहीं तो क्या ऐसे दिन आते! सब उसी का खेल है। उसी पर भरोसा रक्खो, सब कुशल होगी।"

रमा ने देखा, चंदो भगवान् के ऊपर सब टालकर स्वयं अलग हो गई है। वह उससे कैसे कहे कि कुछ दो। कोई अवसर ढूँढ़ने लगी। ठोकर खाए हुए आत्मगौरव के लिये उसका मन रो रहा था। वह अभी सँभल भी न पाई थी कि

चंदो उठकर चली। सहसा बम के गोले की तरह रमा के मुँह से निकल गया—"चंदो, आज कुछ खाने को दो।" अस्तु।

धीरे-धीरे चेष्टा करते-करते रमा एक स्कूल में अध्यापिका हो गई। अब वह चालीस रुपए वेतन पाने लगी। उसका और रेणु का पालन मजे में होने लगा। कुछ बचा भी लेती थी, रेणु का ब्याह जो करना था। इस तरह कठिनाइयों और विपत्तियों में पलकर रेणु आज उस दशा में है, जिसमें हम-आप उसे देख चुके हैं। वह अपनी स्थिति समझती है, और इसी कारण सीधी-सादी, सरल रीति से रहती है। उसका मन विलास-वैभव की ओर कभी जाता ही नहीं। वह ऐसी दुनिया में रहती है, जहाँ भोग-विलास के स्थान पर शुद्ध-सात्विक प्रेम, वैभव के स्थान पर सादगी और बनावट के स्थान पर सीधी-सादी सरलता है।

आज रमा को अपने अतीत की याद आ रही थी। गर्मी के दिन थे, चाँदनी रात। मा-बेटी छत पर शीतलपाटी बिछाकर लेटी हुई थीं। रमा अपने गत जीवन पर विचार कर रही थी, रेणु अपने भविष्यत् जीवन पर। आखिर रेणु से चुप न रहा गया। बोली—"अम्मा, तुम बड़ी खराब हो। हरदम जाने क्या-क्या सोचती रहती हो। देखती नहीं हो, कैसी चाँदनी निखर रही है, मानो धरती पर धुली हुई सफेद चादर बिछी हो। आकाश में ये नक्षत्र, जो चाँदनी की प्रभा के आगे संकुचित हो रहे हैं, टिमटिमाते हुए कैसे भले लगते हैं।

चाँद मानो लंबी यात्रा से थककर रजनी की गोद में विश्राम कर रहा है। तुम उदास क्यों हो मा !"

रमा ने रेणु की इस सरलता पर मुस्किरा दिया। उस पुत्री के इस साहित्यिक ज्ञान का पता न था। इसके पहले कभी उसने वास्तविक स्थिति उससे नहीं बताई थी। वह नहीं चाहती थी कि उसे दुःखित करे। बोली—"आज तो तू बड़ी साहित्यिक बन गई है !"

रेणु खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"साहित्यिक काहे को मा ! मुझे तो ऐसे दृश्यों में आनंद आता है। जब चाँद बादलों से आँख-मिचौनी खेलता है, रजनी भर-भर लोचन उस स्वर्गीय दृश्य को निहारती रह जाती है, प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ जब प्रत्येक सर, उपवन, कुसुम और मानव को चूमने बढ़ती हैं, संध्या को जब वह लज्जा से लाल मुँह किए पश्चिम क्षितिज में डूबने लगता है, उस समय कोई कैसे चुप रह जाता है। मैं तो आनंद-विभोर हो उठती हूँ। तुम्हें इन दृश्यों में कोई नवीनता नहीं है मा ?"

रमा ने एक गहरी साँस ली। बोली—"नवीनता कहाँ है बेटी, संसार अपने रास्ते पर चला जा रहा है, उसे क्या पता कि कितने बनते, कितने बिगड़ते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय के साथ-ही-साथ कितने मनुष्य इस संसार से उठ जाते हैं। चाँद की मनोहर चाँदनी में सोए कितने मानव यह कह सकते हैं कि कल भी इसी भाँति सोएँगे। प्रत्येक श्वास के साथ ही

क्या हमारे जीवन की अवधि घटती नहीं जा रही है ? बेटी, प्रकृति के अणु-अणु में सौंदर्य है, विधाता की इस कारीगरी के प्रत्येक परमाणु में नवीनता है, किंतु किसके लिये ? अभागी मानव-जाति अपने को इन क्षणिक प्रलोभनों में बहलाकर एक विराट् सत्य की अवहेला करना चाहती है। एक कठोर और स्थूल सत्य की उपेक्षा करने के लिये अपने मन को इन अवास्तविक साधनों में उलझाकर क्या कोई विशेष लाभ होगा बेटी ! ये दृश्य आदि काल से चले आए हैं, और अंत तक चले जायँगे। मनुष्य को माया की कुहेलिका में बहलाए रहेंगे। कहीं नवीनता नहीं। दुखी हृदय इन्हें लेकर क्या करेगा ?"

रेणु -"तुम कहती हो मा, नवीनता नहीं। मैं पृथ्वी के एक-एक अणु में नवीनता पाती हूँ। क्या राकेश की विमल-धवल चंद्रिका कभी पुरानी जान पड़ती है ? कोकिल का मदमय कंठ-स्वर क्या नित्य ही उसी भाँति मदिरा का घट नहीं ढुलकाता ? उपवन के कुसुम क्या नित्य नई आनबान से नहीं खिलते ? ये दृश्य ऐसे हैं, जो नित्य नवीन जान पड़ते हैं। इनसे कभी जी भर नहीं सकता। ये सत्य और चिर-सुंदर हैं। दुखी हृदय क्यों मा, ऐसे समय भी क्या कोई दुखी बना रह सकता है ?"

रमा ने उसे अतीत जीवन की कहानी नहीं सुनानी चाही। एकाएक उसे एक बात सूझी। पूछ बैठी—"बेटी, तू इतनी

बड़ी हुई। तेरी क्या कभी ब्याह करने की इच्छा होती है ?"

रेणु इस प्रश्न से बहुत घबराती थी। बोली—"क्या बड़ी हो जाने से ब्याह करना आवश्यक हो जाता है अम्मा !"

रमा—"नहीं, फिर भी मैं जानना चाहती हूँ।"

रेणु—"मेरी समझ में नहीं आता कि ब्याह को लोग क्यों इतना महत्त्व देते हैं ? मैं तो अपने भरसक यह जुआँ कभी गले में न डालूँ। ज़रा देखो तो ब्याहता स्त्रियों की दशा। बेचारी अपने मन की करने को तरसकर रह जाती हैं। शिक्षा से दूर रखकर, घर की चहारदीवारी में कैदियों की तरह बंद रखकर, कितने ही नियमों में जकड़कर उन्हें कैसे पंगु बना दिया गया है। दूषित प्रथाओं के भार से दबी हुई और अत्याचारों से परिपीड़ित कुल-देवियाँ दासी का जीवन व्यतीत करती हैं। स्त्री दिन-रात पति देवता की सेवा करे, उनके लिये आमोद की सामग्री बनी रहे, उनके लिये यातनाएँ सहे, और उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके संग चिता में बैठकर जल मरने के लिये भी तैयार रहे !"

रमा अवाक् रह गई। पुत्री के मुख से ऐसी भयानक बातें सुनने का उसे अभ्यास न था। यह आज पहला अवसर था, जब उसने रेणु से विवाह के विषय में बात करनी चाही थी, पर रेणु ने उसका मुँह ही बंद कर दिया। निरुत्तर होकर बोली—"पर बेटी, ये तुम कैसी बातें करती हो ! विवाह

आदि काल से चला आया है, और तुम्हारे इन विचारों से समाज को लाभ नहीं होगा, अनिष्ट ही होने की आशंका है !"

रेणु इसके लिये जैसे तैयार थी। बोली—"समाज की बात क्यों कहती हो अम्मा ! हमारे समाज के बड़े-बड़े विद्वान्, देश-विदेशों में भी अपनी योग्यता की धूम मचा देनेवाले महापुरुष भी अभी अंध-विश्वास और रूढ़ियों के प्रबल पाश में बुरी तरह जकड़े हुए हैं। प्राचीनता के अवैतनिक दास बने हुए हैं। उन्हें अपनी आत्मा, अपने विचारों, अपने विश्वासों पर स्वयं भरोसा नहीं। उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का उन्हें साहस नहीं। क्या तुम बतला सकती हो कि इस समाज से कभी किसी का भला हुआ हो ? यही बात उस दिन सुरेश बाबू ने कही थी, तब मैंने उनकी यह भूल बताई थी। अब धीरे-धीरे समझ रही हूँ कि इसमें सत्य कितना है।"

कहने को तो रेणु इतना कह गई, पर अब उसे भय हो रहा था कि कहीं मा हमारे प्रेम-संबंध को समझ न जायँ। वह चुप हो गई। उसे एकदम चुप हो जाते देखकर रमा को कुछ संदेह हुआ। उसने बात बदलने के लिये पूछा—"क्यों, सुरेश बाबू की तबियत तो अब ठीक है न ? मुझे तो फुर्सत ही न मिली कि जाकर देख आती।"

रेणु—"चलो अम्मा, कल चलकर देख आएँ।"

"अच्छा, अब सो रह। ज्यादा रात गई।" कहकर रमा ने करवट बदली, और सोने का उपक्रम करने लगी। पर रेणु

की आँखों में नींद कहाँ, वह सुरेश को अपने सामने बैठा देख रही थी, और उसी से बातें कर रही थी।

स्वप्न क्या हैं? दिन-भर के मानसिक संघर्ष की रात में प्रतिच्छाया ही तो हैं।

(५)

पानी ज़ोरों से बरस रहा था। बरसात की रात अपने हृदय में भीषण सन्नाटा छिपाए हुए थी। चारों ओर सायँ-सायँ हो रही थी। सुरेश अपने ऊपर के कमरे में पलँग पर पड़ा करवटें बदल रहा था। एकाएक कुछ सोचकर उठ बैठा, घड़ी की ओर देखा, ११ बजे थे। वह उठकर कमरे में टहलने लगा, फिर एक खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया। दूर दूर वृक्षों की श्रेणी के ऊपर चंद्रिका मेघों से आँख-मिचौनी खेल रही थी। निस्तब्धता का अखंड साम्राज्य था। सारा संसार निद्रा की शांतिमयी गोद में विश्राम ले रहा था। सुरेश ने रोशनी की, एक पत्र लिखने का विचार किया। कागज-कलम लेकर बैठा भी, पर मन भावों की उलझन में जा फँसा। वह सोचने लगा—ओह रेणु! तुम क्यों मेरे जीवन में आ गईं। वह कैसी अशुभ घड़ी थी, जब तुम्हें पहले-पहल देखा था। आज उस घटना को बीते वर्ष-भर हो गया। ये ही दिन थे। उस दिन प्रातःकाल से ही आकाश मेघों से आच्छादित था। रह-रहकर हलकी फुहार पड़ जाती थी।

मैं छत पर बैठा हुआ आकाश में मेघ-मालाओं का सृजन होना देख रहा था, और देख रहा था सूर्य देव के साथ बादलों की क्रीड़ा। तुम्हारी छत पर धोतियाँ पड़ी थीं। एकाएक भीषण गड़गड़ाहट हुई, चारों ओर से बादल घिर आए, अँधेरा सघन हो गया, और मूसलधार वर्षा होने लगी। उस पानी में भीगती हुई तुम छत पर से धोतियाँ उतारने आई थीं। मैं सायबान में बैठा तुम्हारे उस अनुपम सौंदर्य को देखकर चकित हो उठा। मेरी आँखों में बिजली कौंध गई। इसके पहले मैंने तुम्हें न देखा था। तुम धोतियाँ लेकर नीचे चली गईं। जाते जाते मेरी ओर एक विलक्षण दृष्टि से देखकर हँस पड़ी थीं। मैं अब समझ रहा हूँ, उस दृष्टि का अर्थ था—कामुक पुरुष-जाति! तुम ज़रा-सी सौंदर्य की आँच लगते ही कैसे मोम की तरह पिघल जाते हो। सौंदर्य, परमात्मा की अनुपम उदारता, तुम्हारे लिये वासना की राह है, और नारी—जो विश्व-शक्ति की सबसे महान् कृति है—तुम्हारे लिये खिलवाड़ है, वासना-पूर्ति का साधन है। उसी दिन से मैं तुम्हारा भक्त हो गया। तुम्हें देखने के लिये मैं व्यग्र रहता था, और इसके लिये मैंने कैसे-कैसे षड्यंत्र रचे। वह दिन क्या भूलने योग्य है, जिस दिन तुम पहलेपहल मुझसे बोली थीं। मेरे स्कूल में अभिनय होनेवाला था, मेरा भी उसमें पार्ट था। उस समय तक तुम्हारे घर और मेरे घर से काफ़ी परिचय हो गया था। तुम अपनी माताजी के साथ मेरे घर

आई थीं। मैं ऊपर कमरे में पान खाने गया, उसी समय तुमने आँखों से जाने कैसी मदिरा उँडेलते हुए कहा—"सुरेश बाबू, माजी कहती हैं कि तुम्हारे स्कूल में नाटक है। हमें न दिखाओगे ?"

ओह ! उस वाक्य में कौन-सा जादू भरा था। मुझ पर कई गैलन का नशा चढ़ गया। मुझे याद है, मैं तुम्हें और तुम्हारी माताजी को नाटक दिखाने ले गया था। इच्छा तो थी कि तुम्हें अकेले ले जाता, पर कठोर समाज, जहाँ युवक-युवतियों का परस्पर मिलना ही संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, क्या कहता ?

उसके बाद से ही, मैं ध्यान से देख रहा था, तुम्हारे विचारों में परिवर्तन हो रहा है। मुझे जान पड़ता था, अब मैं तुम्हारे हृदय के किसी कोने में स्थान पा रहा हूँ। और, तब से आज तक इसी आशा में हूँ कि तुम एक बार कह दो—"सुरेश बाबू, मैं तुम्हें हृदय से प्यार करती हूँ।"

सुरेश की विचार-धारा रुकी। उसने देखा, एक पतिंगा लैंप की परिक्रमा कर रहा है। उसे हँसी आ गई। भोले पतंग, तू नहीं जानता कि तू क्या कर रहा है ! तू केवल प्राण देना जानता है, प्रेम के लिये जल मरना चाहता है। आह ! प्रेम ! प्रेम ! इन दो वर्णों में विधाता ने कौन-सा मधु उँडेल दिया है, जो मनुष्य इसके लिये पागल रहता है। यह विश्व का एक सुंदर रहस्य है। विश्व को स्वर्ग बना देने की शक्ति रखता है। इस शब्द में कैसी मिठास है !

सुरेश ने एक बार खुली खिड़की से मुक्त आकाश की ओर देखा। अब पानी थम गया था, मेघ हट गए थे, और स्वच्छ, निर्मल आकाश में चंद्रमा बिहँस रहा था। पानी कब रुका, यह सुरेश न जान सका। उसे स्वय इसका आश्चर्य हो रहा था। इतनी ही देर में उसके हृदय में भावनाओं का तूफ़ान उठा, और शांत हो गया। वह क्या-क्या सोच गया। उसने एक बार फिर क़लम उठाई। काग़ज़ अब भी उसके सामने मेज़ पर पड़ा उसकी इस दशा पर हँस रहा था। उसने कलम कान पर रख ली, उठा, आलमारी खोलकर उसमें से एक सिगरेट निकाली। सुलगाकर पत्र लिखने बैठा—

"प्रिय रेणु"

पत्र लिखने के पहले सोचने लगा, तुम्हें क्या संबोधन लिखूँ। फिर विचार आया, तुम मेरी प्रिय हो, प्रिय वस्तु को 'प्रिय' के सिवा और क्या लिख सकता हूँ? तुमसे मेरी दशा छिपी नहीं। इधर वर्ष-भर में ही तुमने मुझे क्या से क्या बना दिया! मैं तुम्हें भूलने की लाख चेष्टा करता हूँ, चाहता हूँ कि तुम मेरी स्मृति में न आओ, पर फिर देखता हूँ कि मैं अपने इस प्रयत्न में सर्वथा असफल हो जाता हूँ। न-जाने तुम्हारे में ऐसी कौन-सी शक्ति है, जो मुझे तुम्हारी ओर आकर्षित करती है। मुझे समाज का डर नहीं। मुझे स्पष्ट उत्तर दो कि तुम मुझसे विवाह कर सकोगी या नहीं।

विना तुम्हारे स्पष्ट उत्तर के मैं पागल हो जाऊँगा मेरी रेणु !

तुम्हारा सुरेश।"

पत्र लिखकर सुरेश उसे मोड़ ही रहा था कि सहसा उसे पर्दे के पास कोई मनुष्य-मूर्ति दिखाई पड़ी। वह तुरत उठकर द्वार पर गया। देखा, लाला हरिशंकर थे। उसने झट सिगरेट कोने में फेक दी, और बोला--"कौन, बाबूजी, आइए! बाहर क्यों खड़े थे ?"

लालाजी ने कुर्सी पर बैठते-बैठते कहा—"आज इतनी रात गए तक क्या लिख रहे थे ?"

सुरेश—"कुछ नहीं, यों ही एक चीज़ थी।"

लालाजी ने गौर से सुरेश की ओर देखते हुए कहा—"खैर, इस समय मैं एक ख़ास काम से आया हूँ। यदि तुम सोते होते, तो तुम्हें जगाता, वह तो तुम जाग रहे थे। तुम देख रहे हो कि आजकल घर की दशा प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। घर के और लोग इस घर को अपनी चीज़ समझते हैं। हम लोगों के साथ उनका जैसा व्यवहार है, वह तुम जानते हो। इस आए दिन की झकझक से मैं तो ऊब उठा हूँ। मैं अब यह घर छोड़ देना चाहता हूँ। तुम भी अब सयाने हो गए हो, भला-बुरा समझ सकते हो, इसलिये तुमसे पूछा।"

सुरेश के सामने यह बात कई बार आई थी, और वह सदा इसे टाल दिया करता था। उसे स्वयं अपनी चाची से इस मा से अधिक स्नेह था। कारण वह स्वयं न जानता था।

अलग-अलग रहने की अवस्था की भीषणता सदैव उसे डराया करती। वह कुंदन का साथ छोड़ने को कदापि तैयार न था। बोला—"कैसी रोज़ की झकझक ! मैं तो नहीं जानता।"

लालाजी को पुत्र की यह अनभिज्ञता बहुत बुरी लगी। बोले—"क्या तुम घर में नहीं रहते ? कभी-कभी तुम ऐसी बातें करते हो कि गुस्सा आता है। स्त्रियों में रोज़ खुराफ़ात मची रहती है, सब एक दूसरे को जैसे खा जायँगी। कभी मेल से रहते नहीं देखा, मानो एक दूसरे को घोर शत्रु हों। तुम्हें क्या ! खाते हो, सो रहते हो। इन झगड़ों के मारे कान तो मेरे बहरे होते हैं।"

सुरेश के मन में तो आया कि कह दे, यदि मेरा खाना भी नहीं देखा जाता, तो उसे भी बंद कर दो, किंतु ज़ब्त कर गया। बोला—"बाबूजी, पहले तो मैं जानता ही नहीं कि कहाँ क्या होता है, क्योंकि मुझे इन बेकाम की बातों के सुनने का समय ही नहीं रहता। इन्हें सुने वह, जिसे और कोई काम न हो। फिर यदि कुछ होता भी हो, तो पुरुषों का काम यह नहीं कि उन बातों में सिर खपावें। उन्हें और काम भी तो दुनिया में करने हैं। यह सब घरों में होता रहता है। इसे कहाँ तक रोकिएगा। स्त्रियों को अशिक्षित रखकर, केवल चौका-बरतन करने के ही लिये ब्याह कर देने का यह अनिवार्य परिणाम है। आप इन बातों पर कान न दिया करें।"

लाला—"तो तुम्हें मेरी घर छोड़नेवाली राय पसंद नहीं है? इसके तो यही मतलब हैं न?"

सुरेश—"बिलकुल नहीं, मैं इसकी रत्ती-भर भी आवश्यकता नहीं देखता। आप सबसे बड़े हैं, यदि आप तनिक भी कड़ाई कर दें, तो यह घर अभी ठीक हो सकता है। और सच बात तो यह है कि मुझे इन सबके मूल में माताजी का ही अधिक हाथ देख पड़ता है। दादाजी की मृत्यु के बाद उन्हीं ने पहले खाना-पीना अलग किया, और वह भी इस बहाने से कि नीचे उतरकर खाने के लिये जाने से आपको कष्ट होता है। यदि आपकी तबियत ठीक न होती, तो भी चार दिन के लिये यह बात मानी जा सकती थी, किंतु इसी बिना पर सदैव के लिये अलग हो जाना क्या ठीक था? यों तो दुनिया में सब अलग-अलग रहते हैं, एक परिवार में भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के उठने, बैठने और सोने की व्यवस्था अलग होती है। केवल भोजन-पान ही एक ऐसी वस्तु है, जो साथ-साथ होने से एक दूसरे के प्रति विश्वास और प्रेम प्रकट होता है। आप दावतों में जाते हैं प्रेम के ही कारण तो। यदि प्रेम न हो, तो आप क्यों किसी के यहाँ या किसी के हाथ का खाने लगें? इसके माने तो यह हुए कि आपके हृदय में अपने से छोटों के प्रति प्रेम भी नहीं रह गया है, तभी तो सब कुछ तो अलग होता ही है, आप भोजन भी उनके हाथ का नहीं करते। क्या बड़ों का यही धर्म है? यदि अन्य परिवारों की भाँति आपने भी इन

बातों पर ध्यान देना आरंभ किया, भाइयों से अलग हो गए, तो बाहर के लिये मान्य और आदर्श बने रहते हुए भी आपका स्थान लोगों की दृष्टि में क्या रह जायगा, यह क्या आप नहीं समझते ? और आपकी यह दशा किसने की है ? क्या माताजी ने ही नहीं ? वही आपके कान शिकायतों से भर देती हैं, और आप उन पर विश्वास कर लेते हैं। पुरुष का अधिकांश समय घर के बाहर व्यतीत होता है, घर की व्यवस्था जानने का साधन उसके लिये केवल अपनी स्त्रियों की कही हुई बातें ही हैं। स्त्रियाँ स्वभावतः छोटी बात को बड़ी करके कहती हैं, और फिर कपट लिए रहनेवाली स्त्रियाँ। आपने अपनी निर्मलता, निष्कपटता और भोलापना बड़े सस्ते मूल्य पर बेच दिया बाबूजी, क्षमा कीजिएगा।"

लालाजी की आशंका सत्य हो रही थी। महादेई ने उनसे कहा था कि सुरेश आपकी रत्ती-भर परवा नहीं करता, और उसे अपने चाचा-चाची अधिक प्यारे हैं। इस समय अपने ही मुँह पर महादेई की यह निंदा सुनकर उनकी धारणा और भी दृढ़ हो गई। बोले—"तुम्हें शर्म भी नहीं आती। मेरे सामने ही इसकी निंदा कर रहे हो ? तुम्हें मेरी अपेक्षा चाचा-चाची अधिक प्यारे हैं, तो उन्हीं को लेकर रहो। क्यों मेरे साथ हो ? मेरे सिर पर भार हो ?"

सुरेश के सामने कुंदन का मुख स्पष्ट हो पड़ा। क्या इस स्नेह-पूर्ण मुख को न देख पाऊँगा ? नहीं, यह नहीं हो

सकता। बोला—"बाबूजी, जो बात संकोच-वश या स्वभाव-वश मैं मुँह पर भी नहीं लाना चाहता था, उसे ही कहने को आप विवश कर रहे हैं। मुझे वे दिन भूले नहीं, जब आप छ-छ महीने बाहर रहते थे, और इन्हीं माताजी ने मुझे दो-दो दिन कि बासी रोटियाँ नमक के साथ खिलाई हैं। जल-पान के नाम मेरे मुख में सात-सात दिनों तक बूँद पानी भी नहीं पड़ा! घोर-से-घोर बीमार रहने पर भी उन्हें मुझे देखने आने का अवकाश नहीं मिला! वह और उनके बच्चे नरम-मुलायम गद्दों पर सोते हों, और मैं कुरसियों पर पड़ा-पड़ा रातें व्यतीत कर दूँ, यह मैंने ही भुगता है। उस समय कौन मेरी सहायता करता था? यही चाचा-चाची थे। इस समय भी मेरे बीमार पड़ने पर कभी अपनी इच्छा से वह मुझे देखने आई हैं? कभी आपके जोर देने पर या आपके कह देने से आई हैं तो जैसे हवा पर सवार और सिर पर जबरदस्ती का बोझ लिए हुए। मैं भी आदमी हूँ बाबूजी, एक छोटा-सा हृदय रखता हूँ। मेरे भी आँखें हैं, और इन बातों का अनुभव करता हूँ, किन्तु चुप रहता हूँ, क्योंकि जानता हूँ, स्पष्ट रूप से आप भी मुझे पुत्र-रूप में नहीं देख सकते, ऐसे बन्धन में हैं। खैर, इन बातों को जाने दीजिए। जो हो रहा है, जो मेरे ऊपर बीती और बीत रही है, वह मेरे साथ है। साफ बात यह है कि मुझे घर के लोगों में उतना दोष नहीं दिखाई पड़ता, जितना आपको। हाँ, इतना मैं अवश्य मानता

हूँ कि अशिक्षा और कुसंस्कारों के कारण स्त्रियाँ एक दूसरे को नहीं पहचान रही हैं, और यह ऐसा दोष नहीं जो दूर न किया जा सके। थोड़ी-सी ही शिक्षा से यह दोष दूर हो सकता है, और फिर देखिएगा कि यही घर कैसा स्वर्ग सा हो जायगा। कोई उद्योग भी तो करे। सब तो इन बातों को सत्य मानकर रोक-थाम में ही लग जाते हैं। सहने की शिक्षा कोई नहीं देता। भारतीय स्त्रियों की शिक्षा ही इस तरह की होती है कि उनमें लड़ाई-झगड़े की मात्रा अधिक होती है। वे मायके से ही भेद-भाव का बीज लिए आती हैं, और ससुराल में उसे फलित होते देखना चाहती हैं।

लालाजी ने आज जो सुना, इसके पहले वह न जानते थे। यदि चेष्टा की होती, तो अवश्य जान पाते, पर इसकी उन्होंने आवश्यकता ही न समझी थी। आज उनकी आँखें कुछ-कुछ खुल रही थीं, असलियत की छाया-सी उन्हें दिखाई पड़ रही थी। सुरेश सिर नीचा किए ये बातें कह रहा था। सिर उठाते ही उसने देखा, लालाजी की कुरसी के पीछे महादेई की उग्र मूर्ति आँखों से जैसे आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं, चेहरा तमतमा आया था। सुरेश उधर न देख सका। महादेई ने वाणी में आग भर कर कहा—"भला रे भला, देख ली तेरी बड़ाई! बाप को बेवकूफ बताता है, और अपना बड़ा बनाता है! मैंने तो (हरिशंकर को हिलाकर) पहले ही तुमसे कहा था कि यह तुम्हारी बात भी नहीं पूछता। आए थे बेटे से राय

लेने, खाई मुँह की या नहीं ! तुम रहो अपने बेटे को लेकर, इस घर में मैं नहीं रहने की। अभी आज ही इनकी देवी-जैसी चाचीजी (कुंदन) मुझे सैकड़ों गालियाँ सुना गईं ! मैं तो कल ही यह घर छोड़ दूँगी।" महादेई फूट फूट कर रोने लगी।

लालाजी जैसे नींद से जागे। क्षण भर में यह क्या हो गया ! बोले—"सुरेश यह क्या हो रहा है ?"

सुरेश को न जाने कहाँ से साहस हो आया। जिस पिता के सामने उसने कभी आँख भी ऊँची न की थी, उसी के सामने आज वह न-जाने कैसे इतने स्पष्ट रूप से बोल रहा था। सत्य स्पष्ट होता ही है। वह किसी से दबना नहीं जानता। संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी सत्य और न्याय को नहीं दबा सकती। बोला—"बाबूजी मैं क्या जानूँ ? हाँ, इतना अवश्य है कि मैं यह घर छोड़ने को कदापि तैयार नहीं। चाहे किन्हीं कारणों से हो। आप लोग भले ही छोड़ दें।"

महादेई फुंकारती हुई वहाँ से उठकर चली गई। इसी समय घण्टे ने दो बजाया। लालाजी भी चुपचाप उठे, और कमरे के बाहर निकल गए। सुरेश ने द्वार बन्द करके फिर एक सिगरेट जलाई। धुएँ के काले बादल कमरे में मँडराने लगे। उन्हीं में उसे कुंदन का मुख दिखाई पड़ा। धीरे-धीरे वही मुख रेणु में परिवर्तित हो गया। वह सोचने

लगा—इन्हीं दोनों स्त्रियों के कारण आज पिता से लड़ बैठा हूँ। कुंदन, चाची, तुम्हारे पवित्र स्नेह ने मुझे बाँध रक्खा है। तुमने मुझे जीवन दिया है, तुम्हें छोड़कर मैं कहीं न रह सकूँगा। और रेणु, तुम ? मेरी रेणु ! तुम्हें छोड़ देना मेरे लिए जीवन मरण का प्रश्न है। इस घर को छोड़कर तुमसे दूर हो जाऊँगा। देवी, यहाँ रहने से तुम्हें प्रतिदिन एक बार देख तो लेता हूँ। मैं मर जाऊँगा, तब भी तुम्हें न छोड़ना चाहूँगा।

उसकी आत्मा इस समय तड़फ रही थी। इसी समय दूर के वृक्ष पर से कोयल बोल उठी—कू ऊ ऊ। सुरेश ने उठकर खिड़की से झाँका। एक व्यक्ति सड़क पर गाता जा रहा था। उसके स्वर सुरेश के कानों में गूँजने लगे। वह गा रहा था—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।"

सुरेश ने सोचा—क्या मेरी भी यही दशा होनी है ?

सयानी लड़की माता-पिता के लिये बोझ होती है। उसे वे जल्दी-से-जल्दी ब्याह करके पराए घर भेज देना चाहते हैं। कैसा आश्चर्य है! जिस माता ने नौ मास कष्ट सहकर जन्म दिया, हृदय का रक्त पिला-पिलाकर बड़ा किया अपनी गोद की छाया में दुलार के झूले पर झुलाया, वही चाहती है कि उसकी कन्या शीघ्र ही पतिवाली बन जाय। वही पिता, जिसने अनेकों कष्ट सहकर भी उसे खाने-पीने की कमी न होने दी, जिसका एक पल भी आँखों से ओझल हो जाना जिसके लिए असह्य था, बाहर से घर आने पर पहले जिसकी पुकार लगाता था, अपने हाथ से अपनी कन्या का दान कर देता है। यह दान करने के लिये बाजे बजते हैं, सगे-संबंधी भर-पेट पकवान खाते हैं, [illegible]न खोलकर रुपये व्यय किये जाते हैं, और दिन-दिन भर[illegible] और [illegible] जाते हैं। किसी को किसी का गुलाम बनाने [illegible] इस समय बड़ी व्यवस्थाएँ की जाती हैं। डा[illegible]ई बेगाने हो गए, चिड़िया के पंख तोड़कर उसे [illegible]य अंधकारमय हो गया,

जाते हैं उसका अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व में लय कर देने के लिए उत्सव मनाया जाता है।

लाला हरिशंकर ने भी मालती के लिये वर खोजा, और पाया। रुपए वाले आदमी थे, उन्हें वर मिलना क्या कठिन हो सकता था! बाबू प्रेमनारायण प्रयाग के रईस थे। उन्हीं का पुत्र था, बड़ी रसिक तबियत का। स्त्रियाँ जिसके लिये केवल विनोद का साधन हैं, और रुपयों का जिसके लिये लुटाने के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं। अधिक-से-अधिक रुपए व्यय करके लालाजी ने मालती को बेचना तय कर लिया था, और इस समय वही समाचार महादेई को सुनाने आए थे। पर यहां कुछ और ही बात थी।

वह जैसे अपने घर में ही बेगाने हो रहे थे। उनके सामने ही उनकी सोने की गृहस्थी मिट्टी में मिल रही थी। वह इसे रोक भी नहीं सकते थे। महादेई के आँसू में वह शक्ति थी, जो इनके सारे मंसूबों को धूल में मिला देती थी। वह इन पर शासन करती थी। यह वेतनभोगी दास की तरह उसके इशारों पर नाचते थे। दोनों में कोई सामंजस्य न था।
...ट, कलह और विष का बीज मायके से ही लेकर आई
...यहाँ उसे आरोपित कर दिया था। धीरे-धीरे अंकुर
...खाएँ फूटीं, और फल-स्वरूप घर-बार अलग-
...आश्चर्य करते थे, जिन हरिशंकर
...न पड़ता था, जो इतने भोले-

भाले, स्वच्छ हृदय वाले थे, वह कैसे इतनी शीघ्र बदल गए!

महादेई उस कमरे से निकल तो आई थी, पर उसी समय से उसका मन सुरेश के प्रति विद्रोही हो उठा। वह समझने लगी कि जब तक सुरेश जीवित है, उसका षड्यंत्र सफल न होगा। वह सुरेश को अपनी राह से दूर करना चाहती थी। इसके लिए वह अवसर ढूँढ़ने लगी। इसी बीच एक घटना और हो गई। इसने महादेई का साहस और बढ़ा दिया। बात यह थी कि सुरेश ने जो पत्र रेणु को लिखा था, उसका उत्तर लेकर नौकर आया। सुरेश घर में न था, महादेई ने वह पत्र ले लिया। नौकर के जाने के बाद उसने वह पत्र खोल डाला। लाल लेटर-पेपर पर सुन्दर अक्षरों में लिखा था—

"प्रिय सुरेश,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारा 'प्रिय' संबोधन मुझे बहुत अच्छा लगा। पर यह तो बताओ, तुम क्यों इतने उतावले हो रहे हो? तुम लिखते हो, तुम्हें समाज का भय नहीं है, पर इसकी आवश्यकता ही क्या है? क्या विवाह ही प्रेम की कसौटी है? प्रेम उतावलापन और छिछोरापन नहीं जानता, प्राण देना जानता है। इसे समझने की चेष्टा करो।

न

तुम्हारी [illegible] और

[illegible] इस समय

महादेई यही छोटा सा पुर्जा लाला ह[illegible] बेगाने हो गए, उनका मन सुरेश की ओर से फे[illegible] अंधकारमय हो गया,

वह आज तैयार भी बैठी थी। अपने कमरे में चारपाई पर पड़ी सोच रही थी—सुरेश तुम मेरा विरोध करोगे ? तुम नहीं जानते हो कि महादेई इस कला में कुशल है। मैं तुम्हें पीस डालूँगी। घर से निकालकर दम लूँगी। महादेई किसी कैकेयी से कम नहीं। इस समय मेरे मार्ग के एक मात्र बाधक तुम्हीं हो। तुम्हें अपने मार्ग से हटाना ही मेरा मुख्य कर्तव्य है।

रात धीरे धीरे फैलने लगी। लाला हरिशंकर के यहाँ भी सब लोग खा पीकर खाली हो गए। लगभग ११ बजे उन्होंने अपने शयन कक्ष में पैर रक्खा। देखा, महादेई दीवार की ओर मुँह किए पलंग पर लेटी हुई है। साँस जोर जोर से चल रही है, जैसे रो रही हो लाला हरिशंकर काँप उठे, भावी अमंगल की सूचना मिल गई। एक बार आकाश की ओर देखकर उन्होंने ठंडी साँस ली, और महादेई की ओर घूमकर बोले—"महादेई !"

महादेई चुप रही, हिली तक नहीं।

लाला ने फिर पुकारा— "महादेई !"

महादेई पूर्ववत चुप रही।

इस बार लाला ने उसे झकझोरकर कहा—'मैं बुलाता ...ीं नहीं। मुँह में ताला लगा है क्या ?"

...ओर क्रोध का सागर आँखों से उँडेलती हुई लाला ...ादेई बोली—"क्या है ? क्यों परेशान करते ...े लेकर रहो। मैं तुम्हारी कौन हूँ ?"

लाला स्तब्ध ! कोई राह न सूझती थी। थोड़ी देर ऊपर देखते रहे, फिर आँखों में करुणा भरकर बोले—"तो क्या करूँ महादेई ! बड़ी परेशानी में हूँ। तुम्हें उससे अधिक मानता हूँ, तो संसार क्या कहेगा, और उसे मानने में तुम्हें जहर-सा लगता है ! कोई उपाय नहीं दिखाई देता।"

महादेई उग्र हो पड़ी—"मैं कब कहती हूँ कि तुम उसे मुझसे छोटा मानो। तुम्हारा अनोखा बेटा है, तुम कंधे पर बैठाए घूमो, कौन मना करेगा? तुम्हें अपना बेटा प्यारा है, अपने भाई प्यारे हैं, तुम उनके होकर रहो। मैं किसी की लौंड़ी नहीं हूँ, जो दिन-रात तुम्हारे लाड़लों के ताने सहूँ। अगर मैं ही आँख की किरकिरी हूँ, तो मुझे मेरे घर पहुँचा दो, फिर मैं कभी इस घर की ओर फूटी आँख उठाकर भी न देखूँगी।"

महादेई ने छोड़ा तो था स्त्रियों का अंतिम अस्त्र, किंतु वह इस समय ठीक निशाने पर न लगा। सुरेश की उस दिन की बातों ने लाला को कुछ-कुछ अपने को समझने का अवसर दिया था। कुछ अंशों तक वह अपनी गलती स्वीकार कर भी सके थे, किंतु मन-ही-मन। महादेई से कहने का साहस न होता था। उसे प्रत्येक विषय में जो अनुचित ढील और स्वतंत्रता उन्होंने दे दी थी, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण इस समय उनके सामने था। घर तबाह हो गया, भाई बेगाने हो गए, पुत्र अश्रद्धालु हो गया, पुत्री का भविष्य अंधकारमय हो गया,

लोगों की दृष्टि में नीचे गिर गए, और स्वयं अपनी दृष्टि में भी वह सरल, निष्कपट, उदार, क्षमाशील और त्यागी न रह गए। अब वह बदले की, प्रतिघात की भावना से भरे साधारण मनुष्य थे। बाहरी लोग जो आदर-सम्मान और शालीनता दिखाते थे, उसमें एक रहस्य की गंध भरी है, एक व्यंग्य की छाया-सी खेल रही है, यह वह समझ रहे थे। देवत्व से च्युत अब वह भी एक ऐसे व्यक्ति रह गए थे, जो हँसी की बात पर खिलखिला उठता है, और क्रोध में आकर मार डालता है। अपने नैतिक पतन की इस भीषणता से उनका मन अब बाहर भाग जाना चाहता था, फिर उसी चिर-परिचित अकलुष वातावरण में आ जाने को वह छटपटा रहा था, किंतु स्पष्ट रूप से कहते हिचकते थे। महारेई की सारी बातें वह मौन होकर सुनते रहे, फिर अपने हृदय के चुभनेवाले शूल को एकदम निकाल फेकने के उद्देश्य से, समझाने के ढंग पर, बोले—"मैं पूछता हूँ, आखिर सुरेश ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? वह मेरा बेटा है, मानता हूँ, पर तुम्हारा क्या उसके प्रति कुछ कर्तव्य नहीं? वह यदि मेरा पुत्र है, तो तुम्हारा भी पुत्र है। यदि मेरे कलेजे का टुकड़ा है, तो तुम्हारे हृदय के कोने में भी उसके लिये स्थान होना चाहिए। मेरा मान तुम्हारा मान, तुम्हारा अपमान मेरा अपमान है। यदि वह मेरे लिये जान देता है, तो साथ ही तुम्हारा भी कम आदर नहीं करता। मैं

इतना समझता हूँ कि वह तुम्हारा इतना अधिक सम्मान करता है कि दूसरा नहीं कर सकता। कभी तुम्हारे सामने उसने जबान नहीं चलाई, कहीं अपना अधिकार नहीं जतलाया, सदा निर्लोभ बना रहा। इतने पर भी तुम सदा उससे दूर-दूर रहने की चेष्टा करती हो, उससे सीधे मुँह बात भी नहीं करतीं। मुझे तो इसमें तुम्हारा ही दोष दिखाई पड़ता है। तुम उसे अपनाने की कोशिश करो, मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह तुम्हारा अनन्य स्नेही हो जायगा। रह गई अन्य लोगो की बात, वह मुझसे छोटे हैं। बाबूजी के न रहने पर पिता की भाँति मैंने उन्हें पाला-पोसा है। यदि वह अब मेरा विरोध करने में ही अपना सुख देखते हैं, तो भगवान् उनका भला करें। मैंने सदा उन्हें छोटा समझा है, पुत्रवत् समझा है। यदि वह मेरी जड़ उखाड़ने में ही संतोष-लाभ करते हों, तो ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे, इसके सिवा और क्या कहूँ? जिसे एक बार छोटा मान लिया, उसके विषय में एक मिनट के लिये भी कोई विरोधी भाव लाऊँ, यह तो अब मुझसे न होगा। अब मुझे उनकी निर्दोषिता पर भी विश्वास होता जा रहा है। बेचारा देवीशंकर वहाँ विदेश में भी बैठा-बैठा इस कुढ़न के कारण घबरा उठा। उसकी अन्तरात्मा वहाँ तड़प-तड़पकर रह जाती थी। वह नहीं चाहता था कि इस घर में विद्वेष की एक किरण भी आवे। इसके लिये वह जब तक जीवित रहा; सदा चेष्टा करता रहा। अन्त में वह भी चल बसा। आज अपने उस

अभिन्न भाई और विपत्ति के सखा को खोकर मेरी आँखें खुली हैं। अब मैं देख रहा हूँ कि यह घर प्रतिदिन जैसे एक गंभीर रहस्य और पहेली होता जा रहा है। देवी, अब तो निद्रा से जागो। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अब भी तुम चाहो, तो सब ठीक हो सकता है। सब कुछ खो जाने पर भी, सब कुछ लुट जाने पर भी, इस घर की मिट्टी में वह ज़ोर है कि नहीं कह सकता। एक बार, बस एक बार चेष्टा कर देखो, असंख्य मजदूर जो न कर सकेंगे, वही तुम्हारे स्नेह-पूर्ण हाथों से हो जायगा, और यही घर फिर स्वर्ग हो जायगा।"

महादेई का मन पिघल रहा था। वह लालाजी पर विजय पाना चाहती थी, अब स्वयं विजित हो गई। वह गर्व, जो अपने सामने किसी को ठहरने न देता था, जिसने जीवन-भर कभी झुकना न जाना था, इस समय उसे भीतर-भीतर धिक्कार रहा था। उसका मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया। लालाजी कहते गए—"महादेई, दूसरों के दंड देने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि उन्हें क्षमा कर दिया जाय। इससे मनुष्य का देवत्व ऊँचा उठाता है। फिर यह तो अपने हैं, सगे हैं, छोटे हैं, इनसे लड़कर, इन्हें इनकी भूलों के लिये सज़ा देकर तुम्हारा बड़प्पन क्या शोभा पायेगा? दो एक धारणाएँ तुम्हारे हृदय में ऐसी बैठ गई हैं, जिनके कारण उनके प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण बुरी तरह विकृत हो गया है। तुम संसार को एक ऐसी ज़गह समझने लगी हो, जहाँ मनुष्य केवल अपने ही

सुख के निमित्त भेजा गया है। उसे दूसरों से कोई मतलब नहीं। तुम समझती होगी कि तुम्हारी भावनाओं का मुझे पूरा ज्ञान नहीं। यह बात नहीं है। मैं जानता हूँ, वे जैसी भी हैं, ऐसी नहीं कि उनके लिये इतना सोच किया जाय, और अपनों को वेगाना बना दिया जाय। और लोग तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं, यह सोचने से पहले अच्छा होगा, यदि यह सोचो कि तुम स्वयं कैसी हो।'

महादेई अब न सँभाल सकी, लालाजी के चरणों पर गिर पड़ी। आहत आत्मगौरव ने उसका साथ छोड़ दिया, उसका सदा का उन्नत मस्तक आप-से-आप लालाजी के पैरों पर नत हो गया। लालाजी ने उसे उठाकर पास बैठा लिया, किंतु उसने उनके वक्षःस्थल में मुँह छिपा लिया। वह उसे समझाने लगे—"महादेई, दूसरों से सहानुभूति और स्नेह तथा प्रेम की आशा रखना ही बड़ी भारी दुर्बलता है। संसार में किसी को किसी के साथ असली सहानुभूति की फुर्सत ही नहीं। सबको अपनी-अपनी पड़ी रहती है। यदि अपने स्वभाव और व्यवहारों से दूसरों को खुश कर सको, उनके दिलों में अपने लिये घर कर सको, तो अपना जीवन धन्य समझो। इसी में कल्याण है। अपने दोषों को देखने की चेष्टा करो, उनमें से कई को तो असाधारण पाओगे। उन्हें अविलंब दूर करने में ही हित है। जब तक वे दूर न हो जायँ, तब तक दूसरों को

ही अपने प्रति दुर्व्यवहारों के लिये सोलहो आने दोषी ठहराना उचित नहीं।"

काले बादल हट गए, आकाश में एक बार फिर से स्नेह का निर्मल चाँद चमक उठा। बादल घिर आए, घटाएँ चढ़ीं, कुछ बूँदाबाँदी हुई, फिर सब साफ हो गया। अब कहीं कुछ न था।

लालाजी जब सोए, तब एक बज चुका था। घड़ी की सुइयाँ अविराम चली जा रही थीं। सहसा महादेई ने कहा—"एक बात पूछूँ बताओगे? बताना क्या है, मान लो।"

लालाजी—"कहो।"

महादेई—"नहीं, पहले कहो कि मान लेंगे।"

लालाजी—"सुनूँ भी, या यों ही कह दूँ?"

महादेई—"ऊँहूँ, पहले मान लो तब बात सुनो।"

लालाजी—"मैं मानता हूँ।"

महादेई—"मैं बहू देखना चाहती हूँ।"

लालाजी मन-ही-मन मुस्किराए। नारी का हृदय कितना वैचित्र्य-पूर्ण होता है। जिस सुरेश को अभी वह इतना तिरस्कृत कर रही थी, उसकी सूरत तक नहीं देखना चाहती थी, उसी का अब ब्याह देखना चाहती है। बोले—"क्या करोगी बहू लेकर! अभी कौन-सी जल्दी पड़ी है। और फिर मालती का ब्याह भी तो करना है।"

महादेई—"मैं कहती थी न, तुम न मानोगे! मैं बहुत

दिनों से इस साध को पालती आ रही हूँ, तुमसे कहती न थी। आज कहा भी, तो तुम मालती की आड़ लेकर टालने लगे। अब तो उसकी उम्र भी काफी हो गई। क्या बूढ़ा हो जायगा, तब करोगे? जो कुछ उसकी शादी में मिलेगा, वह मालती के ब्याह में दे देंगे।"

लालाजी—"उससे भी तो पूछ लेना चाहिए। अगर उसकी राय न हुई, तब? अभी उसकी क्या उम्र है? बीस-बाईस साल की, खेलने-खाने की उम्र में ही कंधों पर बोझ लेकर बैठेगा?"

रात अधिक हो गई थी, अतः स्वभावतः नींद ने उन्हें विवश किया, और बातें अधिक न हो सकीं। हाँ, सोने के समय महादेई ने कब एक छोटा-सा पुर्जा तकिए के नीचे से निकालकर फाड़ डाला, यह लालाजी न देख सके। सुरेश का विवाह तो हुआ नहीं, एक मास के अन्दर-अन्दर ही मालती अपना यह घर छोड़कर पराए घर में चली गई। अपने से नहीं, कुछ लोग आए, जबरन् उसे पिता से, माता से, भाई से, यहाँ तक कि प्राणप्रिय मोहन से भी छुड़ाकर, सजी-सजाई पलकी में बैठाकर ले गए। इस धूमधाम, नाच-रंग, उत्सव, आमोद-प्रमोद में किसको पड़ी थी, जो देखता कि उसके दिल की दुनिया में कौन-सी आग धधक रही है। केवल सुरेश जानता था, पर वह विवश था। नक्कारखाने में तूनी की आवाज कौन सुनता है।

सावन का महीना है। आकाश में रंग-बिरंगी घटायें छाई हुई हैं। सूर्यदेव जैसे बादलों से लुका छिपी खेल रहे हों। रह-रहकर फुहारें पड़ जाती हैं। सर्वत्र हरियाली है, सब प्रसन्न हैं। केवल सुरेश ऐसे समय भी प्रसन्न नहीं। उसे अपने हृदय में जलन का अनुभव हो रहा था, सिर में चक्कर मालूम हो रहा था। रेणु की सूरत उसकी आँखों के सामने फिर रही थी। वह सोच रहा था, सौंदर्य और यौवन इतना रहस्यमय होता है! जो सुन्दर है, मोहक है, उसके हृदय में कपट और छल की भावना क्यों? 'जिसकी सूरत है प्यार के काबिल, वह नहीं एतबार के काबिल।' ऐसा क्यों? हम जिसे चाहते हैं, उसे पा क्यों नहीं सकते? बाग में खिले हुए गुलाब के सुन्दर फूल को तोड़ लेने का अधिकार सबको है, किंतु सौंदर्य और यौवन की खान पुतलियों से दो पल बोल लेना भी क्यों अपराध है? रेणु, तुम मुझे किस रास्ते पर ले जा रही हो, यह मैं नहीं जानता। मैं केवल उस पथ पर बढ़ा जा रहा हूँ, जिस पर मेरी आत्मा मुझे ले जा रही है। मैं देख रहा हूँ, इन कुछ

दिनों में ही मेरा कितना पतन हो गया है। मेरा शरीर कंकाल-मात्र रह गया है, मेरा हृदय छलनी हो गया है। मैं हर तरह से अपने को शक्ति-हीन, असहाय और बंधन में जकड़ा हुआ पाता हूँ। यह सब क्या तुम्हारे ही कारण नहीं? तुम्हीं मुझे इस कष्ट से उबार सकती हो।

रेणु को किसी प्रकार यह मालूम हो गया था कि सुरेश के विवाह की बातचीत हो रही है। वह आज उसी के विषय में उससे बात करना चाहती थी। उसका मन इस समय अस्थिर था, इस कल्पना मात्र से ही वह सिहर उठती थी कि सुरेश अब दूसरे का हो जायगा। वह मन-ही-मन सुरेश को बहुत चाहती थी; इतना, जितना कोई भी स्त्री किसी पुरुष को न चाहेगी। पर ऊपर से वह उससे खिंची रहती थी, उसे भय था, उसके कारण वह कोई ऐसा कार्य न कर बैठे जो परिवार, वंश और समाज के लिए अहितकर और कलंक हो। अपने सामने ही अपनी कामनाओं की होली जलते देखकर भी वह आँखें बंद कर लेती थी। बड़े परिश्रम से हृदय में कल्पनाओं का एक सुन्दर नगर बसाया था; सोचा था, यह अनुदिन उन्नति करेगा। किंतु जाने किधर से एक चिन-गारी आई, जिसने समूचे नगर को जलाकर खाक कर डाला। अभिलाषाओं का एक बिरवा था, जिसे हृदय के रक्त से सींच-सींचकर बढ़ाया था। सहसा कुचक्रों की एक आँधी उठी, और वह उड़ गया! अब कुछ नहीं है!

वह जब कमरे में आई, सुरेश खिड़की पर बैठा आकाश की ओर देख रहा है। दिन के तीन ही बजे घटाओं के कारण अँधेरा छा रहा है। ठीक उसी तरह सुरेश का हृदय भी तमसावृत है। प्रकाश के लिए वह तड़प रहा है, पर कहीं का प्रकाश नहीं।

रेणु ने पुकारा—"सुरेश बाबू !"

सुरेश मानों ऊँघ रहा था, जाग पड़ा 'कौन ? रेणु ! आओ, बैठो।" उसने कहा।

रेणु—"यों खिड़की पर सोते हो, गिर पड़ो, तो ?"

सुरेश ने एक ठडी सांस ली, और बोला—"गिरता तो नित्य ही जा रहा हूँ रेणु ! जीवन में कभी ऊँचे न उठ सका। बचपन सौतेली माता के निर्दय शासन में कटा, यौवन सुख के, पर झूठे सपनों को देखने में कट रहा है। अनजाने पथ पर सदा फिसलता रहा। कभी ऊँचे उठने को सहारा न मिला। गिरूँ न, तो क्या करूँ ?"

रेणु—"सुरेश बाबू आपके विचार इतने निराशावादी और रहस्यमय क्यों होते जा रहे हैं ? जीवन के प्रति इतना अधिक विराग तो कभी हितकर नहीं होता। अब तो, सुनती हूँ, तुम्हारा विवाह भी होने वाला है। अब क्या है फाके करके भी प्रसन्न रहने के दिन आ रहे हैं।"

सुरेश—"ब्याह नहीं, दाह कहो। मनुष्य क्या अपनी मृत्यु को इस प्रकार गले लगाता है ? मैं ब्याह की रत्ती-भर परवाह नहीं करता, मुझे केवल यह भरोसा है कि तुम मुझे

प्यार करती हो। इस संबल पर ही मैं अपनी जीवन-नौका तिरा ले जाऊँगा। मेरी रेणु, आँखों में जल भरकर, घुटने टेककर मैं तुमसे प्रणय की भिक्षा माँगता हूँ। बोलो, दोगी? बोलो!"

रेणु की आँखें सजल हो गईं, हृदय प्यार से छलकने लगा। इच्छा हुई, सुरेश को गले से लगा ले, पर ज़ब्त कर गई। एक ही क्षण में उसने अपने को खुलने से सँभाला, सिर झुकाकर संकोच से बोली—"मैं मानती हूँ, मनुष्य-जीवन की स्वर्गोपम विभूति प्रेम है। निःसंदेह यह पवित्र है, महत् और देवोपम है; किंतु आजकल समाज के जैसे नियम हैं, बंधन हैं, उन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि कोई भी स्त्री या पुरुष केवल इसी सहारे पर प्राण-यापन नहीं कर सकता। उसे अपने लिये एक जीवन-साथी की जरूरत पड़ेगी ही। हमारा समाज, जहाँ वयस्क स्त्री-पुरुषों का मिलन, बातचीत, आमोद-प्रमोद संदेह और अपवित्रता की दृष्टि से देखा जाता है, यह सहन नहीं कर सकता कि कोई भी स्त्री अपने प्रेमी की सुखद मूर्ति अपने हृदय-मंदिर में बिठाए रहे, और उसी की पूजा करती रहे, या कोई युवक अपनी प्रेमिका की उपासना में लीन रहे, और अपना जीवन-कुसुम उसी प्रतिमा पर चढ़ा-कर सार्थक हो जाय।"

सुरेश के सामने फिर समाज मुँह फाड़कर खड़ा हो गया। वह जितना ही इससे मुक्त होना चाहता था, यह उतना ही विकराल होता जाता था। इसके और रेणु के बीच में

यही समाज की मोटी दीवार थी। वह कायस्थ था रेणु बंगालिन और फिर ब्राह्मण। उसके सामने ही वह सम्पत्ति थी, जिसके आगे संसार की समस्त विभूतियां नगण्य हैं, हेय हैं, तुच्छ हैं, पर समाज की अटूट दीवार उसके मार्ग की बाधा थी। उसके हृदय में क्रांति का, सच्ची क्रांति का अंधड़ बह रहा था। उसका बस चलता, तो इन समाज के ठेकेदारों का एक साथ ही विध्वंस कर देता। उसका अंतःकरण इस समय डाईनामाईट बना हुआ था। घृणा और क्रोध से बोला—"हमारा समाज जबर्दस्ती दो हृदयों को एक करना चाहता है, और उनके अनिच्छुक मन-देशों में प्रेम की पुण्य-सलिला मंदाकिनी बहवाना चाहता है। उन्हें बाध्य करता है कि वे अपने को एक दूसरे के अधीन समझें, दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझें, और अपना जीवन दूसरे के सिद्धांतों, आदर्शों और विचारों पर बलिदान कर दें। ऐसे विवाह राक्षसी होते हैं। जहां हृदय नहीं शरीर का सौदा है, जहाँ प्रेम और प्यार के स्थान पर वासना और बर्बरता का राज्य है, वहाँ हमारा अभागा समाज जाने कैसे समझता है कि सुख होगा, प्रेम होगा, और सहृदयता होगी। मैंने ऐसे कितने ही व्यक्तियों को देखा है, जो समाज की दृष्टि में तो विवाहित हैं, उनका जीवन सुखमय और सुन्दर है; यदि स्त्री हैं, तो उनके पति निहायत हसीन, खूबसूरत और रुपये वाले हैं। पर सच मानो रेणु रानी, मैंने जो उनके हृदयों का अध्ययन किया, तो उनमें से अधिकांश रो रहे हैं,

उनका अन्तःकरण संतुष्ट नहीं। वे भूखे हैं दैवी प्रेम के भोजन के, प्यासे हैं स्नेह-सागर के जल के। वे उसी कोयल की भाँति हैं, जिसे पकड़कर पींजड़े में जकड़ दिया गया हो, और जिसे दो दानों के लिये, अपने अधिकारों को भूलकर, मालिक को प्रसन्न करने के हेतु, दो बोल बोल देने पड़ते हों। मानों मालिक ही उसका सब कुछ है।"

रेणु का अंतःकरण कह रहा था कि तू अपने को धोखा दे रही है। सुरेश को विवाह करने के लिए बार-बार आदेश देने में उसके हृदय में कितनी पीड़ा होती थी, कलेजे में कितनी चोट लगती थी, यह वही जानती थी। बलि के बकरे को लोग खिला-खिलाकर मारते हैं, यह उसे पसंद न था। वह अपने हृदय से क्रूर खिलवाड़ कर रही थी। यदि ऐसा न करती, और सुरेश को स्पष्ट स्वीकृति दे देती, तो संभव था, प्रेम के दीवानेपन में वह कुछ ऐसा कर बैठता, जिससे दोनों परिवारों के सम्मान पर बट्टा लगता। वह भी स्वयं कहीं मुँह दिखलाने योग्य न रह जाती। बोली—"सुरेश बाबू, अपने लिए एक जीवन-साथी खोज लेने का नाम ही विवाह है। मैं इसे ही विवाह का उद्देश्य समझती हूँ। यों तो धार्मिक और सामाजिक, कई कसौटियों पर विवाह कसा जाता है, पर उन सबका उद्देश्य एक स्त्री या पुरुष के लिये एक जीवन-संगी का ढूँढ़ देना होता है, जिसके बिना उनका जीवन अपूर्ण रहता है। तुम कह सकते हो, जब प्रेम का इतना महत्व है, तो कोई

भी स्त्री या पुरुष, युवक या युवती जिसे प्यार करे, उसे ही अपना आराध्य देव बनाले, और अपना तनमनधन अर्पण कर दे। विवाह का उद्देश्य सिद्ध हो गया, एक जीवन-सहचर मिल गया। पर भोले सुरेश, यौवन उद्दाम कल्पनाओं और वासनाओं का बना होता है। सुखमय सपनों की इसमें बाढ़ सी आती रहती है। यह जिसे देखता है, उसे अपने में रख लेना चाहता है। संभव है, प्रेम के इस मादक नशे में बहुत सतर्क रहने पर भी उचित-अनुचित का भेद ज्ञान भूल जाय, भले-बुरे का ध्यान न रह जाय, और हम गलत राह पर चल खड़े हों। उसी को बँधन में बाँधने के लिये, एक सीमा में परिसीमित करने के लिए हमारे प्राचीन गुरुओं और आचार्यों ने विवाह का क्रम रक्खा है। सुरेश बाबू, विवाह न करके तुम जीवन की एक आवश्यक जिम्मेदारी से हीन रह जाओगे। तुम अवश्य विवाह करलो।"

वह जब यहाँ से घर गई, तो उसे इसी चर्चा में पड़ना पड़ा। रमा ने सोने के समय कहा—"बेटी, उस दिन मैंने तूझसे पूछा था, पर तू टाल गई। अब मैं सब इन्तजाम कर रही हूँ, तेरा ब्याह हो जाना आवश्यक है।"

पर यहाँ वह रेणु न थी, जो सुरेश के सामने थी। वहाँ उसे सुरेश को सम्भलना था, यहाँ अपने को सँभालना है। वह जैसे रमा के इस वाक्य पर आसमान से गिरी। बोली—"तुम व्यर्थ तैयारियाँ कर रही हो अम्मा! मैं ब्याह नहीं करना चाहती।"

रमा बोली—"तो क्या यों ही रहेगी ? मेरी समझ में नहीं आता कि तू कैसी लड़की है। जीवन में हम सबको एक सहारे की, एक आधार की आवश्यकता होती है। हम सदा एकाकी जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। बचपन में हमें माता की आवश्यकता होती है, यौवन में वही स्थान एक चतुर स्त्री लेती है। तेरे ऊपर एक व्यक्ति का जीवन सुधारने का भार है। जिस प्रकार माता बचपन में सुख-दुख का खयाल रखती है, उचित समय पर खिलाती-पिलाती रहती है, प्रत्येक कार्य की खोज-खबर रखती है, ठीक उसी प्रकार एक सती-साध्वी सहधर्मिणी युवावस्था में असंयत जीवन को संयत और सुचारु रूप से चलने वाला बनाती है, और पुरुष की हरएक हरकत को मद्दे-नज़र रखती है। स्त्री को इसी कारण माता का पद दिया गया है। तू क्या इस अनिर्वचनीय सुख से, इस गौरवमय पद से वंचित रह जाना चाहती है? विवाह द्वारा हम एक ऐसा सहचर पाते हैं, जो हमारे साथ रहता है, जिसका जीवन-सूत्र हमारे जीवन-सूत्र से संबद्ध रहता है, जिसका धर्म, प्यार, स्वार्थ और सुख-दुख, सब एक ही स्थान पर, हम पर ही, केंद्रीभूत हो जाते हैं। दो प्राणों के मिलन को नियमबद्ध करार देने के लिये, उस पर औचित्य की छाप लगा देने के लिये विवाह आवश्यक समझा जाता है।"

रेणु के मुख से अनायास ही निकल गया—"जिस किसी

स्त्री या पुरुष को किसी ऐसे स्नेही का सहयोग प्राप्त है, जो निरंतर उसके लिये ज़मीन-आसमान एक कर सकता है, उस स्त्री या पुरुष के लिये विवाह आवश्यक नहीं। कम-से-कम मैं ऐसा ही समझती हूँ। यह मुझसे कभी न होगा कि मैं यों अपने को पति के वहम पर बलिदान कर दूँ। जब तक कोई ऐसा व्यक्ति मुझे न मिले, जिस पर मैं विश्वास कर सकूँ, जिसके साथ अपने जीवन की डोर बाँध देने पर मैं ऊँचे उठ सकूँ, ससार में साहित्य या समाज की कुछ सेवा कर सकूँ, तब तक विवाह करना मैं मूर्खता समझती हूँ। तुम चुपचाप बैठो। जिस दिन मुझे कोई ऐसा व्यक्ति मिल जायगा, जब मेरी इच्छा होगी, मैं स्वयं तुमसे कहूँगी कि मेरा विवाह कर दो। मैं अपने कमरे में जा रही हूँ। मुझे एक लेख लिखना है। मुझे बीच में छेड़ना मत।"

वह उठकर चली गई। रमा अब भी अन्धकार में रह गई। उसने तर्क द्वारा रेणु के मन की बात निकालनी चाही थी, पर रेणु ने पुट्ठे पर हाथ ही न रखने दिया। यह लड़की क्या है, यह रमा आज तक न समझ सकी। वह उसे व्यर्थ की वस्तु समझने लगी।

इसमें आश्चर्य ही क्या है? संसार जिसे समझने में अपने को असमर्थ पाता है, उसे ही तो फिजूल कह देता है!

कुंदन ऐसे कगार पर खड़ी थी, जहाँ से फिसल पड़ना बहुत सहज था। नीचे ही पतन की गहरी नदी अपने साथ अनेक अभिलाषाओं और कामनाओं की लहरों को लिए अविराम बहती चली जा रही थी। वह अपने चारों ओर देख रही थी बियाबान जंगल। इधर धर्मरूपी भालू मुँह फाड़े खड़ा था, उधर समाज-रूपी शेर अपनी लाल आँखें दिखा रहा था। ऊपर विपत्तियों के मेघ गरज रहे थे। एक पग आगे बढ़ाया, देखा, वासना की अग्नि प्रज्ज्वलित है। लाल-लाल शिखाएँ जीभ लपलपाती-सी जान पड़ रही हैं।

वह स्वप्न देख रही थी। उसने देखा, वह एक जंगल में अकेली है, राह भूल गई है। चारों ओर भय-ही-भय है। पानी बरस रहा है, रह-रहकर बिजली चमक उठती है। कुछ दूर पर प्रकाश की एक रेखा दिखाई पड़ रही है। वह उसी ओर बढ़ती है, बीच में एक बड़ा भारी काला साँप रेंग रहा है। वह उसकी ओर बढ़ता है, वह मूर्छित हो जाती है।

वह चीख़ पड़ी। पास हो कृष्णशंकर सोए हुए थे, जाग पड़े। बोले—"क्या है कुंदन, डर गई क्या ?"

वह अब सतर्क हुई। चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखा, कहीं कुछ नहीं। फिर उसने पति की ओर देखा, वह उसकी ओर देखकर मुस्करा रहे थे। वह सोचने लगी, क्या सदा मेरी यह दशा रहेगी !

रात के दो बजे होंगे। विश्व की सारी शक्तियाँ इस समय निद्रित थीं। मेघ-मंडल से आच्छादित, विमल, गंभीर चद्रमा जैसे कहीं छिपना चाहता हो, पर उसकी यह चेष्टा व्यर्थ हो रही थी। बाहर धरती जैसे चाँदनी का झीना आवरण डाले अपने काले भाग्य को रो रही थी।

कुंदन उठकर खिड़की के पास आई। एक बार उसने प्रकाश पाने की चेष्टा की, पर असफल रही। चारों ओर आँखें घूम-कर खिड़की की चौखट पर आकर स्थिर हो गई। उसने हाथ टेक दिया, विचार-धारा अनजाने प्रदेश में द्रुतगति से दौड़ पड़ी—क्षणिक, अस्थायी सुख-अनुभूति के लिये, पल-भर के मानसिक आनंद के लिये, अपनी विलासिता की कुत्सित परितृप्ति के लिये, कुंदन ऐसा घोर पाप न कर। वह युवक है, सुंदर है, पुरुष है, पर पर-पुरुष है, उससे तुझे क्या वास्ता ! इसका क्या परिणाम होगा ? क्या तू इससे अपने को बचा नहीं सकती ! नहीं, नहीं, वासना की अग्नि प्रज्ज्वलित है, नरक की कालिमा धीरे-धीरे फैल रही है, उससे बच-

कर भाग निकलना सहज नहीं। उसमें क्या है, जो मुझे अपनी ओर आकर्षित करता है! वह सुंदर है, पर उससे भी सुंदर क्या मेरे पति का हृदय नहीं? उसकी वाणी मधुर है, मादक है, पर कोकिल का कंठ-स्वर उससे कहीं अधिक स्थायी, उन्मादकारी तथा रसमय होता है। वह कांतिमान है, किंतु ऊषा-राग-रंजित, निर्मल आकाश उससे कहीं अधिक कांतिमान होता है। उसके मुख पर सहज मुस्कान खेलती रहती है, परंतु वह रजनी की सुखद गोद में खेलते हुए धवल-विमल राकेश के वदन-मंडल पर खेलती हुई मुस्कान से सुंदर नहीं। इतने पर भी मैं क्यों उसकी ओर खिंचती हूँ? इन प्राकृतिक दृश्यों में, जिनका सौंदर्य चिरस्थायी और अविनश्वर है, जो प्रलय के भीषण झंझावात में भी हँसते रहते हैं, मेरा मन क्यों नहीं लगता? इन्हें छोड़कर अचिरस्थायी, नश्वर, निमिष-भर की परितृप्ति की खोज क्यों? कामुकता का ऐसा नग्न तांडव क्यों? विलासिता का पाप-पूर्ण कुत्सित प्रलोभन क्यों? आदर्श, धर्म और समाज के प्रति यह विद्रोह क्यों? मै किस नरक की ओर जा रही हूँ?

क्या? नरक! नरक क्या वस्तु है? किस स्थान का नाम है? स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, मोक्ष और कष्टकर पीड़ा, ये सब धार्मिक, अंध-श्रद्धा-युत भोली-भाली जनता को ठगने के उपाय हैं। चोरी करना पाप है, किंतु एक चोर की दृष्टि में, जिसकी संतान भीषण उदर-ज्वाला से हाहाकार कर

रही है, जिसकी स्त्री फटे चीथड़ों को तरस रही है, चोरी से बढ़कर और कोई पुण्य नहीं। जो बात दस व्यक्तियों को उचित न जान पड़े, जिससे उनकी कोई हानि होती हो, उनके स्वार्थ-पूर्ण व्यापार में विघ्न उपस्थित होता हो, वह पाप है, अनुचित है, दुराचार है। क्या परिभाषा है पाप की! दुराचार की कैसी सुंदर व्याख्या है! और, यह व्याख्या की है समाज ने, जो चाँदी के गोल टुकड़ों के लिये वीभत्स-से-वीभत्स कृत्य सहज में ही संपादन कर सकता है। सोने की हँसती-बोलती प्रतिमाएँ मिट्टी में मिला दी जाती हैं, उनका स्वर्गीय रूप, स्वर्णिम सौंदर्य कुत्सित, कामुक पुरुषों के हाथ बेच दिया जाता है केवल अपनी उदर-पूर्ति के लिये। उनका भविष्य-जीवन, जिसके लिये उन्होंने क्या-क्या आशाएँ लगा रक्खी थीं, कैसी-कैसी सुख की कल्पनाएँ की थीं, अनगिनत दिन जिसकी सुखद तैयारियों में व्यतीत किए थे, वही भविष्य-जीवन सघन अंधकार के गर्त में ढकेल दिया जाता है। उस गर्त में, जहाँ एक बार गिर पड़ने पर बेचारी अबला उद्धार नहीं पा सकती। मैं पतिदेव की ओर से क्यों दूर-दूर रहती हूँ, मेरा मन उनसे क्यों नहीं मिलता, इसलिये न कि ब्याह के पहले हम दोनों ने एक दूसरे को देखा तक न था! एक अनजान व्यक्ति के साथ, जो दूसरे के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ है, दूसरे का जीवन-सूत्र संबद्ध कर दिया जाता है। और, फिर भी समाज आशा करता है

कि वह एक दूसरे के विश्वास-पात्र हों, अभिन्न-हृदय हों, प्रेमी हों और सब कुछ हों।

जी मे आता है, समाज को खूब कोसूँ। इतना कोसूँ कि वह तिलमिला उठे। हिंस्र पशु भी इससे भयानक नहीं होता। यह व्यक्तियों की, निर्दोष व्यक्तियों की खुले आम हत्या करता है। जीवन के लहलहाते कामना-तरुओं पर कुठाराघात कर देता है। स्निग्ध ऊषाकाल में रात्रि की कालिमा बनकर छा जाता है। दो अबोध, निरीह प्राणियों को, बिना उनकी इच्छा के, गुलामी और चिर-दासता के प्रबल पाश में बाँध देना कहाँ का न्याय है? बड़े और समाज में ऊँची नाक रखने वाले लोग दुराचारी हों, लंपट हों, वेश्याएँ रक्खें, व्यभिचार को गले लगाए फिरते हों, समाज इसे दबा देगा, चूँ भी न करेगा। छोटा-निर्बल बेचारा सिर उठाते ही कुचल दिया जायगा, उठते ही पीस डाला जायगा। देवताओं ने पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया, किंतु वे सदा देवता बने रहे; ऋषि-मुनियों ने पर-नारियों के साथ काम-केलि की, वे सदा मान्य बने रहे। उनके विरुद्ध कोई कैसे बोले, देवता जो थे, समर्थ जो थे! केवल कुंदन के ही लिये ये नियम हैं, यह बंधन है, यह आचार-विचार है! वह अगर अपने पथ से एक डग भी इधर-उधर हुई, तो उसके लिये भी देवता भी काल होंगे। ऋषि-मुनियों ने पोथे-पुराण लिख ही रक्खे हैं, यह समाज भी भयंकर मुख फाड़कर खड़ा हो जायगा,

जैसे निगलने को तैयार हो ! क्यों ? इसीलिये न कि कुंदन निर्बल है, उसका कोई सहायक नहीं, वह 'अबला' है ! वह यदि अपनी यौवन-जनित वासना को दबाने में समर्थ न हो, उसकी तेज आँच से न बच सके, और परिणाम-स्वरूप किसी आराध्य देव, प्रियतम के चरणों पर, जिससे उसका मन मिलता हो, अपना जीवन-पुष्प अंजलि-रूप में चढ़ा दे, तो समाज उसे अबला जानकर पीस डालेगा, और उसका यह कृत्य इहलोक और परलोक, दोनो को बिगाड़ने वाला होगा, वंश-गौरव के विरुद्ध होगा, मान में बट्टा लगेगा। तो समाज ! देख ! आज तू भी आँख खोलकर देख ! स्त्री को अबला समझने वाले समाज का विध्वंस वह अबला ही कैसे करती है ! समाज के समस्त नियमों को बंधनों को, आचार-विचारों को अपना संकल्प पूरा करने के लिये वह अबला किस प्रकार ठुकरा देती और विजय प्राप्त करती है। इहलोक की उसे चिंता नहीं, परलोक केवल ढोंगियों का ढकोसला है। वंश-गौरव उसके सामने तुच्छ है, हेय है, मान को वह नगण्य समझती है। मैं अवश्य उस युवक को अपना प्रेमपात्र बनाऊँगी। समाज देखे ! वह देखता रहेगा, और मैं पैरों से उसके बंधनों को, नियमों को, निषेधों को, प्रतिरोधों को मसल डालूँगी, कुचल डालूँगी। स्वार्थी, बिर्मम, कठोर समाज ! एक स्त्री के प्रबल प्रतिरोध में तू न टिक सकेगा। स्त्री प्रेम में, दया में देवी है; किंतु क्रुद्ध होने पर, अपना

निर्धारित मार्ग अवरुद्ध होने पर वह दानवी भी हो सकती है। जिसके सामने ही शीतल जल से भरा सरोवर हो, उसे कोई अपनी प्यास बुझाने से रोक सकता है? मेरे सामने प्रेम की नदी बह रही है। उसकी एक-एक लहर, एक-एक हिलोर मुझे मौन निमंत्रण दे रही है कि मैं अपनी अतृप्त प्यास बुझा लूँ। मैं क्या करूँ? मेरा उसमें क्या वश है? यह यौवन की संपत्ति, जिसे विधाता ने दया-पूर्वक दान दिया है, कहाँ संचित करूँ? रुपए-पैसे का धन भी गाड़कर रखने से, जन्म-जन्मांतर के लिये संचित करने से नष्ट हो जाता है; फिर यह यौवन-धन, जिसमें पग-पग पर लुटेरों का भय है! प्रेम-नद में डूब जाने को, भरपूर डूब जाने को मन चाहता है। ऐसी डुबान हो, जिसमें फिर ऊपर न आना हो। ये नेत्र, जिनमें आकर्षण, भोलेपन और यौवन-मदिरा की बाढ़-सी आ रही है, किसी को अपने कटाक्ष से पूर्ण रूप से विद्ध कर देना चाहते हैं। देखना चाहते हैं, कोई इनसे घायल होकर तड़प रहा है, बिलख रहा है। फिर ये ही उसे उबार भी लेना चाहते हैं। यह उदार, उन्मुक्त प्रेममय हृदय किसी को अपने में रख लेना चाहता है। ऐसे पिंजरे में बाँधना चाहता है, जहाँ से फिर उस जीव की मुक्ति न हो, वह उसी में रम जाय। यह दीप-शिखा-सा सुंदर-कांतिमय शरीर, जिस पर कितने ही पतिंगे अपना प्राण होम करने में सौभाग्य समझेंगे, स्वयं किसी के वश हो जाना चाहता है। कुछ नहीं, सारा संसार हँसता रहे, चारों

ओर अंधकार-ही-अंधकार हो जाय, तब भी सुरेश, मैं तुम्हारे प्रेम के ध्रुव-तारे के प्रकाश में अपना पथ अतिक्रमण करूँगी। उसका प्रकाश ही मुझे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देगा।

कृष्णशंकर ने करवट लेते हुए पूछा—'कुंदन, क्या सोच रही हो? यहाँ आओ।"

कुंदन जैसे चौंक उठी। चुपचाप, धीरे-धीरे आकर कृष्ण-शंकर के सिरहाने पलँग पर बैठ गई। मुख पर विषाद की छाया स्पष्ट खेल रही थी। सदा का चंद्रमा-सा देदीप्यमान मुखमंडल इस समय धूमिल हो रहा था। भाव प्रतिक्षण बदल रहे थे।

कृष्णशंकर ने उसका हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा—"कुंदन, यह बात क्या है! इधर कई दिनों से मैं देख रहा हूँ, कि तुम्हारा प्रफुल्ल मुख अब सदा गंभीरता और विषाद की ओट में छिपा रहता है। जिस हँसी से सारा घर मुखरित रहा करता था, उसी पर करुणा का घूँघट पड़ा रहता है। मालूम होता है, किसी चिंता ने तुम्हें सता रक्खा है। तुम्हारा यह भाव, यह सकरुण मुख मुझे बड़ी पीड़ा पहुँचाता है। तुम मुझसे स्पष्ट कहो कि क्या बात है। मुझसे कोई अपराध हुआ?"

कुंदन ने बनावटी हँसी हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"आप पागल हो गए हैं क्या? ऐसी बातें आज क्यों करते हैं? अपराध क्यों होगा?"

कृष्णशंकर--"नहीं कुंदन, मुझसे छिपाने की चेष्टा मत करो। मुझसे छिपाने से क्या लाभ ? तुम इधर कुछ दिनों से प्रतिदिन बदलती जा रही हो, इसका अवश्य कोई कारण है। न बताना चाहती हो, तो न बताओ।"

वह एक बारगी ही चुप हो गए। थोड़ी देर भी हो गई। कुंदन अब स्वयं इस शांति को भंग करना चाहती थी। उसे भय था कि कहीं वह कुछ बात समझ न लें। उसने बात बदलने के लिये पूछा--"अच्छ, एक बात बताएँगे ?"

कृष्णशंकर--"पूछो।"

कुंदन--"आजकल का विवाह-क्रम तुम्हें पसंद है ?"

कृष्णशंकर--'प्रश्न जरा कठिन है, पर थोड़े में इसका उत्तर यह है कि थोड़ा सुधार कर देने पर यह अवश्य सुन्दर हो जायगा।"

कुंदन --मुझे तो यह नहीं ठीक जान पड़ता। जबरदस्ती दो व्यक्तियों को, जो एक दूसरे से एकदम अनजान हों, एक साथ रहने को बाध्य करना बर्बरता है।"

कृष्णशंकर कुछ देर चुप रहे, फिर बोले--"कुंदन, तुम इसे बर्बरता कहती हो, किन्तु मेरा विचार है, इससे सुन्दर और कोई रीति हो ही नहीं सकती। केवल माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा और इच्छा के अनुसार दो व्यक्ति अपने को ऐसे बंधन में बाँधते हैं, जिससे जन्म-भर मुक्ति पाना प्रायः असंभव है।

इस सरलता से, इस सहज रूप में विश्व में इतना बड़ा कार्य कोई नहीं कर सकता। अपना हृदय, अपना जीवन, अपनी समस्त आशा-अभिलाषाएँ, अपनी कामनाएँ, अपना सुख-दुख भविष्य, स्वतंत्रता, धर्म-कर्म, मुक्ति और शरीर, सब कुछ, थोड़े समय में ही, केवल। परिजनों के कहने पर ही, उसे दे डालना, जिसे पहले देखा तक नहीं, पहले से जिसके नाम, काम और परिचय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, ऐसे व्यक्ति के चरणों में अपना सर्वस्व दान कर देना बड़ा महत्व-पूर्ण है, गौरवमय है, अनुकरणीय है।"

कुंदन एकदम से हार नहीं मान लेना चाहती थी। बोली—"तो क्या यह गौरव, महत्व और अनुकरण स्त्री के ही लिये है? पुरुष इससे सर्वथा स्वतंत्र है? पुरुषों द्वारा नारियों की जो दुर्दशा आज दिन हो रही है, क्या उस ओर आप लोगों की आँख नहीं उठती?"

कृष्णशंकर—"दया, सत्य, सेवा और प्रेम की मूर्ति नारी ही तो है! उनके सिवा यह त्याग, ऐसा महान् दान, ऐसा उदार आत्मसमर्पण और ऐसा ज्वलत बलिदान और कौन कर सकता है? अमृत की नदी या विष का कुंड, सुख या दुख, प्रेम या द्वेष, मान या अपमान, स्त्री के लिये दोनों बराबर हैं। स्त्री महान् है, पवित्र है, महामाया है, अन्नपूर्णा है, उसके भाँडार में, कोष में प्रेम की कभी कमी नहीं रही।

है। ऐसी स्नेहशीला, दानशीला देवी होकर भी वह यदि निर्बल स्वार्थी, नित्य नूतनता के प्रेमी, चंचल और असहिष्णु पुरुषों का साथ छोड़ देगी, उन्हें ऊंचा उठाने का सतत प्रयत्न न करती रहेगी, तो पुरुष—दुर्बल, कायर पुरुष—और भी पतन के गहरे गढ़े में गिरता जायगा। उसका ऐसा भीषण ह्रास होगा जिसका अनुमान करना कठिन है।"

कुंदन—"किन्तु समाज नारी को क्यों बाध्य करता है कि वह अपने पति को, चाहे वह रोगी हो, असुन्दर हो, प्यार करे, उस पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे! उसे इसका क्या अधिकार है जब वह स्वयं अपने को, पुरुषों को ऐसे बन्धन में नहीं रखता?"

कृष्णशंकर—"हाँ, यह मैं मानता हूँ कि पुरुषों पर भी समाज का अनुशासन समान होना चाहिए। यदि नहीं है, तो यह समाज की भूल है, भारी भूल है। पर स्त्री के लिये, किसी भी दशा में हो, उसका पति ही उसका देवता है, आराध्य है, पूज्य है, और मान्य है। वह स्त्री के शरीर की ताकत, नयनों की लाली और ज्योति, बुढ़ापे की लकड़ी और डूबते हुए को तिनके का सहारा है। रोगी को पथ्य मिलने से जो सुख होता है, व्यथित को नींद आ जाने से जो शांति प्राप्त होती है, निराशा की काली अमावस्या में आशा की दामिनी दमक जाने से जो आनंद मिलता है, और दीन-दरिद्र को अतुल सम्पत्ति मिल जाने से जो स्वर्गीय

प्रसन्नता उपलब्ध होती है, वही सुख, वही शांति, वही प्रसन्नता नारी अपने पति में पाती है। जो पति स्त्री का आदर करता हो, उस पर पूर्ण रूप से आसक्त हो, उसके लिये सभी स्त्रियाँ मर सकती हैं, जी सकती हैं। सच्ची भक्ति का, सच्ची निष्ठा का, सच्ची आराधना का और सच्ची पति-भक्ति का आदर्श है उन्हीं चरणों की पूजा करना, जिनसे पति स्त्री को ठुकराता है। वही मुँह जोहते रहना, जिससे अपशब्द निकलते हों। वही स्त्री प्रशसनीय है, जिसका पति-प्रेम भीषण विपत्तियों में भी, प्रलोभनों के सघन-अभेद्य अन्धकार में भी हिमालय की भाँति अचल, प्रतिमा की भाँति शांत, ध्रुव-तारे की भाँति प्रकाशमान है। नारी यह जानती है कि पति ही मेरे देवता हैं, स्वामी हैं, ठुकरा दें, चाहे प्यार करें, चरणों में स्थान दें, या पैर में चुभे काँटे की भाँति निकाल कर दूर फेक दें। पति के लिये मरने का अवसर भी सब को नहीं प्राप्त होता, जिसे यह अवसर मिल जाय, उसे अपना जीवन धन्य समझना चाहिए।"

कुंदन निरुत्तर हो गई। उसके मन में विचार उठ रहा था—कितने मधुर शब्द हैं, कितना प्रेम भरा संभाषण है! ऐसे पति से भी मैं कपट कर रही हूँ! किन्तु ओह! फिर वही वासना! तो क्या मैं कोई पाप नहीं कर रही हूँ? पाप क्या है? गौतम-पत्नी अहल्या—त्याग, भक्ति, निष्ठा और तप की सजीव प्रतिमा अहल्या—से पापाचार करके भी देवाधिदेव

इन्द्र निष्पाप बने रहे ! महर्षिवर पराशर ने मत्स्यगंधा के भुवन-मोहन सौंदर्य पर मुग्ध होकर उससे व्यभिचार किया, फिर भी विश्व उन्हें आदर्श समझता है। उन्हें कोई क्यों नहीं आदर्श-हीन, कामुक और पथ-भ्रष्ट कहता ? इसीलिए कि वह पुरुष थे, देवता थे, शक्तिमान् थे ?

संसार में कोई भी अमृत का घूँट पीकर नहीं आता, अमरत्व का वरदान बिरले ही व्यक्तियों को प्राप्त होता है। और वह अमरत्व भी शारीरिक नहीं होता। अपने शुद्ध और निर्मल चरित्र के बल पर, परोपकार और उदारता की भित्ति पर लोग मर जाने पर भी अपने पीछे एक ऐसी अक्षय कीर्ति और पुण्य-स्मृति छोड़ जाते हैं, जो कभी नहीं मरती, और नित्य नूतन रूप में चमककर संसार वालों के लिये एक आदर्श बन जाती है।

किन्तु लालाजी के जीवन में क्या था? अपने सुख और अपनी लालसा की निरंतर तृप्ति के सिवा उन्होंने और क्या किया था? अपने परिवार की छोटी-सी दुनिया के लिये वह सदा सुख-वैभव के साधन जुटाने में ही संलग्न रहे, संसार की उन्हें चिन्ता न थी। कितने गरीबों और असहायों की आहें उनके शरीर के रक्त में मिली हुई थी, कितने अत्याचार और अन्याय से पिसे व्यक्तियों की करुण पुकारें उन्हें पदे-पदे रोकती थी, यह कौन कह सकता है? आज उन्हें

उसी का पुरस्कार मिला था। उनकी पाशविकता मूर्तिमती होकर उनके सामने नग्न नृत्य कर रही थी। अभी आज भी वह एक भीषण पाप कर चुके थे। एक गरीब किसान के एकमात्र बेटे को आज ही साल-भर की सजा दे आए थे। उस बेचारे का कोई दोष न था, यह वह भली भाँति जानते थे, पर कानून की अन्याय-मूलक धाराओं ने उन्हें वैसा करने को बाध्य किया था। वह नौकरी के पीछे आत्मगौरव और आत्माभिमान से हाथ धो बैठे थे। उन्हें याद आ रही थी उस बूढ़े किसान की दयनीय दशा। भीषण ज्वर से आक्रांत होने पर भी वह अदालत में आया था केवल अपने बेटे की अन्तिम झाँकी देख लेने के लिये। उसे विश्वास था, अब वह दस-बारह दिनों से अधिक न जिएगा। और, उस युवक के मुख पर कैसा हास्य खेल रहा था, जैसा एक निरपराध और आत्माभिमानी व्यक्ति के मुख पर होता है। उसने हंसते-हंसते सजा सुनी, और मैजिस्ट्रेट की न्याय-बुद्धि पर मुस्किरा उठा। लालाजी को मालुम होने लगा, जैसे काल के भयानक दूत हाथ फैलाकर उनकी ओर बढ़ रहे हैं। उन्हें अपने गले पर किसी के कठोर पजों का अनुभव हुआ। आँखें बाहर निकल आईं, और वह तड़पकर बिछावन पर गिर गए। सारा घर जैसे हाहाकार कर उठा। बात यह थी कि संध्या को घर लौटने पर उनका जी नहीं लग रहा था, आँखें मूँदकर पलँग पर पड़ रहे। रात होते-होते उन्हें जोर का बुखार चढ़

आया। उसी ज्वर में वह जाने क्या क्या बकने लगे इसी अनर्गल प्रलाप में उनके मुख से दिन की सारी बातें निकल गईं। आज की इस घटना ने उन पर विशेष प्रभाव डाला था। एक बात और थी। घर की आएदिन की झकझक से वह और भी ऊब बैठे थे। उनकी माया की विचित्र परिभाषा थी। घर की माया मे वह दूर-दूर रहना चाहते थे, बाहर के मोह-जाल में भले ही पूर्ण रूप से फंसे रहते हों।

बड़े आदमी की बात थी। हम आप तो नहीं थे, जो पैसे खर्च करने पर भी डॉक्टर महोदयों की ज़बानें न सीधी हों। क्षण-भर में ही आस-पास ख़बर फैल गई, और डाक्टर राधा-मोहन, यामिनीभूषण और कामिनीकांत स्वयं दौड़े आए। घर के बाहर और भीतर उत्सुक आँखें बिछ गईं। जो अधिक घनिष्ठ थे, वह भीतर तक आ गए, जो केवल साहब-सलामतवाले थे, वे बेचारे बहार मे ही हाल-चाल लेने लगे। यह है हमारी आपकी सभ्यता! ऐसे अवसरों पर भी नीच-ऊँच, बड़े-छोटे का भेद बना रहता है! समाज में ऊँची नाक रखने वालों की मृत्यु-शय्या की छाया भी कोई उनसे हीन कहा जाने वाला नहीं लाँघ सकता।

डॉक्टर राधामोहन ने थर्मामीटर को रोशनी के पास ले जाकर देखा, और फिर रोगी की ओर मुड़कर बोले--"हाई फ़ीवर। बुखार बहुत तेज है।"

सुरेश और महादेई, दोनों वहाँ उपस्थित थे। उनके एक-

मात्र आधार लालाजी आज उन्हें छोड़कर जा रहे थे। पल-भर में ही महादेई ने सारी बातें सोच डालीं, भविष्य-जीवन उसके सामने मुँह फाड़े खड़ा था। सहसा लालाजी ने दोनों को संकेत से अपने पास बुलाया, दोनों अपराधी की भाँति उनके पलँग के पास बैठ गए। उन्होंने सुरेश को पलँग पर अपने पास बैठा लिया, और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'आज तुम अनाथ हो रहे हो। तुम्हारा यह पिता अब तुम्हें देखने फिर कभी न आवेगा। केवल वहाँ बैठे-बैठे तुम्हें सुखी देखकर सतोष लाभ करेगा। मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया। तुम्हारे फूल से सुकुमार जीवन को धूल में मिला दिया। जिस समय तुम्हें खाना-खेलना चाहिए था, सुख के सपने देखने चाहिए थे, वही समय तुम्हारा दुःख, वेदना और चिन्ता में कटा। इसमें मेरा ही दोष था। तुमने इतने पर भी कुछ नहीं कहा। सब कुछ सहा, पर जबान न हिलाई। मेरे पास धन था, पर तुमने उसका भोग न किया। आज यही याद करके मेरी आत्मा व्यथित हो रही है। आह!"

डॉक्टर यामिनीभूषण ने ग़ौर से उनके चेहरे की ओर देखते हुए कहा—"डिलीरियम।"

सबकी आँखों से आँसू बह रहे थे। सब अपने विचारों को भूलकर एक हो रहे थे, मानो आँसू ने उनके भीतर के मनो-मालिन्य को एक साथ ही बहाकर दूर कर दिया हो। सबकी आँखें एकटक उनकी ओर लगी हुई थी। बड़े कष्ट से उन्होंने

फिर एक बार आँखें खोलीं। चारों ओर घूमकर आँखें महादेई पर आकर स्थिर हो गईं। निराशा और वेदना की मूर्ति बनी हुई महादेई सिर झुकाए बैठी हुई थी। लालाजी ने क्षीण होते हुए स्वर में पुकारा—"महादेई!"

महादेई ने आँखें उठाईं, लालाजी की पथराती आँखों से उनका साक्षात् हुआ। महादेई ने उनमें कुछ पढ़ा, और वह डर गई। लालाजी बोले—"महादेई, मेरे पीछे मेरे अनाथ बच्चों का तिरस्कार मत करना। वे बेचारे एकदम अबोध हैं। अब मैं समझ रहा हूँ, मेरे जीते-जी तुमने उनका बड़ा अपमान किया है। वह तुमसे छोटे हैं। अजान हैं। यदि दो अक्षर बेजबान भी कह दें, तो उसे सर-आँखों पर सहना। तुम चाहोगी इनसे दूर-दूर रहना, तो ऐसे गृहस्थी नहीं चलती। पारिवारिक सुख-शान्ति के लिये सबको अपने-अपने व्यक्तित्व सुखों का त्याग करना ही पड़ता है। तुम समझती होगी कि इनसे मैं बड़ी हूँ, मुझे इन पर शासन करने का अधिकार है, पर महादेई, शासन भी मिलकर, प्यार से हो सकता है। यह मेरी अन्तिम इच्छा है, इसे पूरी करना। मेरे दोनों बच्चे मेरी अनुपस्थित न जान सकें।"

डॉक्टर कामिनीकांत बोले—"दि केस इज़ गेटिंग सीरियस (हाल बिगड़ता जा रहा है)।" तीनों डॉक्टरों ने एक दूसरे की ओर अर्थ-पूर्ण दृष्टि से देखा।

महादेई से वहाँ न रहा गया, उसकी आँखों में आंसू का

सागर उमड़ पड़ा। वह सुरेश और मालती से जलती थी अवश्य, पर यह केवल लालाजी के ही बल पर था। वह सदा उसे बढ़ावा दिए रहे, कम-से-कम सुनी उसी की। पर अब वह किसके बल पर इनसे द्वेष करेगी! अब तो सुरेश ही उसका सब कुछ होगा। लालाजी के आँख मूंदते ही वह वहाँ से हट गई। एक अलग कमरे में जाकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसने मन-ही-मन भगवान से प्रार्थना की—भगवान्, मेरा सुहाग मुझसे न छीनो। मैं अपने अपराधों के लिये तुमसे क्षमा माँगती हूँ। शायद उस अभागिनी को यह नहीं मालूम था कि ऐसे अवसरों पर भगवान् कहा जानेवाला अदृष्ट भी ऐसी नींद सोता है, जिसमें करुण-से-करुण प्रार्थना भी नहीं सुन पड़ती।

रात प्रतिपल काली होती जा रही थी। अंधकार के प्रेमी पक्षी अपने शिकार की खोज में निकल पड़े। दूर के वृक्ष पर से उल्लू बोल उठा। लालाजी ने धीरे-धीरे अपना हाथ ऊँचा करके पुत्र के शरीर पर फेरते हुए कहा—"बेटा, बाप मर रहा है। उसने कभी तुझे हँसते नहीं देखा, आजन्म तुझे रुलाने में ही सुख मानता रहा। मालती-जैसी सुशीला पुत्री का भी मैंने कुछ खयाल नहीं किया। मेरे-जैसा अभिमानी, निर्दय, मूर्ख व्यक्ति तुम लोगों का पिता होने योग्य न था।"

एक खोज की दृष्टि चारों ओर डालकर लालाजी फिर बोले—"महादेई ने मुझ पर जादू कर दिया था। उसके माया-जाल में

मैं ऐसा फँसा कि तुम सबको भूल गया। आज उसी पाप का प्रायश्चित करने जा रहा हूँ।"

सुरेश ने रुँधे कंठ से कहा—"बाबूजी, यह आप क्या कह रहे हैं? जरा-सी बीमारी से यों विचलित न होइए। आप बहुत शीघ्र अच्छे हो जायँगे। आपके इस प्रकार कहने से माताजी बहुत घबरा उठी हैं।"

लालाजी ने संकेत से रोककर कहा—"मुझे जाने दो। आज मुझे बड़ा सुख मिल रहा है। मुझे संतोष है, मरते वक्त तुम लोगों से अपने अपराध की छमा माँगकर कर रहा हूँ। इस मरते हुए की हालत पर तरस खाकर तुम क्षमा भी कर दोगे। संसार के मोह-जाल से आज मैं छूट रहा हूँ। विश्व के माया-बंधन से आज मैं मुक्त हो रहा हूँ। जो-जो सुख इस घर में मैंने भोगे, वे तुम्हें न दे सका। तुम अभागों के भाग्य में माता का सुख तो था ही नहीं, पिता ने भी तुम्हें बिसार दिया। तुम्हारी यह उमर मौज करने की थी, लेकिन तुम्हारे ही ऊपर सारी गृहस्थी का बोझ छोड़कर मैं जा रहा हूँ। कुछ रुपये बैंक में हैं, निकाल लेना। मुझे क्षमा करो, अब मैं जा रहा हूँ। मेरा तिरस्कार मत करना, यदि कभी याद आ जाऊँ, तो मेरे नाम पर दो बूँद आँसू गिरा देना।"

लालाजी ने सुरेश का हाथ लेकर अपनी छाती पर रख लिया। करुणा से उनकी आँखें भर आईं, और वे भरी हुई आँखें धीरे-धीरे सदा के लिये बंद हो गईं! पंचतत्त्वों से

निर्मित पुतला पचतत्त्वों में ही मिल गया, खाक से बना हुआ नर-तन खाक में ही पड़ा रह गया। विश्व के किसी कोने में—निभृत कोने में—एक फूल खिला था, चार दिन अपने आप ही हँस-रोकर, गिरकर मुरझा गया। कोई साथ न गया। भाई बधु, पुत्र-पत्नी, सब इसी संसार में रह गए, केवल अनंत-पथ का पथिक अपनी राह पर अकेला चला गया। जिस सुख के लिये इतना किया, जिस वैभव के लिये इतने निर्दोष व्यक्तियों का गला काटा, जिन उद्दाम लालसाओं के लिये दिन-रात एक करके अथक परिश्रम किया, वे ही उन पर हँस रही थीं। मोह का पुतला मोह से भरे संसार को छोड़कर चला गया, केवल उसकी स्मृति का मोह ही रह गया। सब कुछ हो गया, पर मोह ने विश्व का अंचल न त्यागा, उसके साथ लिपटा ही रहा।

सुरेश नीचे उतरकर, धीरे-धीरे महादेई के सामने जाकर बोला—"अम्मा!"

महादेई ने आँसू-भरी आँखों से पूछा—"क्या है? उनकी तबियत अब कैसी है?"

सुरेश क्या कहे! आँखों के आगे अँधेरा छा गया। बड़े कष्ट से सँभलकर कर बोला—"बाबूजी अब इस संसार में नहीं हैं।

महादेई पर जैसे वज्र टूट पड़ा। वह धम से वहीं गिर गई। यह वह क्या सुन रही है। पतिदेव अब इस संसार में

नहीं हैं। हा भगवान्! वह तो लुट गई। अब वह क्या करे! पर यह हो कैसे सकता है। झूठ, सब झूठ! वह यह कभी नहीं मान सकती।

पागलों की भाँति दौड़कर वह लालाजी की चारपाई के पास पहुँची। वहाँ उनका शव पड़ा हुआ था। ओठों पर संसार-त्याग की दृढ़ता थी, आँखों में आँसू सूख गए थे। सारा वातावरण शोक के अथाह सागर में डूबा हुआ था।

महादेई का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। इस बार बड़ी जोर से चौखट पर गिरी, सिर फट गया। रक्त की धारा बह निकली। साँस जोर-जोर से चलने लगी। आज उसके पति इस संसार में नहीं हैं। उसका एकमात्र अवलंब, जिसका मुँह जोह-जोहकर वह अपने जीवन के दिन भीषण विपत्तियों में भी काट सकती थी, आज इस संसार से चला गया। अब उसके लिये संसार सूना है। वह वस्तु उससे छिन गई है, जो अब उसे कभी नहीं मिल सकती। सारा परिवार मिलकर भी अब उस रिक्त स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता। उसका सोने का घर आज मिट्टी हो गया। जिसको वह अपने जीवन का अखंड दीप समझती थी, जिसके बल पर वह मृत्यु तक को खेल समझती थी, जो उसके जीवन के सारे शृंगार-सुख आमोद-प्रमोद का एकमात्र लक्ष्य था, वही आज काल के पंखों पर उड़कर किसी अनजाने प्रदेश को चला गया है। उसकी आशा-अभिलाषाओं का लहलहा खेत आज ऊजाड़ हो

गया। उसका सौभाग्य-सिंदूर आज पुँछ गया था। अब वह किसे अपना कहकर पुकारेगी! वह निर्निमेष उस शव की ओर देखने लगी। क्षण-भर में यह क्या हो गया, यह वह समझ न सकी। बालों में खून जम गया था, आँसू आँखों से ढुलककर गाल पर थम गए थे। सिंदूर की लाली रक्त की लाली में छिप गई थी। चूड़ियाँ टूट टूटकर इधर-उधर बिखर गई थीं, पर उसे इसकी चिंता नहीं थी। रोते-रोते वह मूर्च्छित हो गई।

पूर्व में लाली छाने लगी। नया संसार सोते से जगा। खग-कुल चहक उठा। सड़क पर एक साधु गाता जा रहा था—

जग झूठा रे सारा साइयाँ, देख क्यों ललचाया;
माटी में मिल जायगी एक दिन तेरी कंचन-काया।

कुन्दन अलसाए नेत्रों से उठ बैठी। उसके सामने, खिड़की के बाहर, नीले आकाश में सूरज ऊपर उठ रहा था। चारों ओर लाली छा रही थी, जैसे किसी ने सोना बिखेर दिया हो। धुली हुई रुई के समान बादल इधर-उधर फैल रहे थे, और उन पर सूर्य की रक्तिम किरणें ऐसी जान पड़ती थीं, मानो रुई का एक ढेर धू-धू करके जल रहा हो। रात-भर उसे नींद नहीं आई थी। वह सोचती रही थी अपना भविष्य, और सोचते-ही-सोचते जैसे एक नतीजे पर पहुँच गई थी। वह बंधनों की परवा न कर अवश्य सुरेश पर अपना सर्वस्व न्योछावर करेगी। उसे जाने कैसे यह अनुभव हो रहा था कि वह भी उसे प्यार करना चाहता है। उसे रेणु और सुरेश के प्रेम-संबध का पता न था।

उस दिन, दिन-भर वह बड़ी प्रसन्न रही, घर के सारे कार्य उसने अकेले ही कर डाले। महादेई को आज एक नया अनुभव हुआ। कुन्दन का स्वभाव आज एकदम बदला देखकर उसकी वेदना जैसे बहुत अंशों में शान्त हो गई। दोपहर को

खाना खा लेने के बाद कुंदन महादेई के पास आ बैठी। उसने देखा, अब वह विधवा है। कुछ ही दिनों पहले हँसते-हँसते अनजाने पुरुष के द्वारा उसने अपने मस्तक पर अचल सुहाग का शुभ चिन्ह सिंदूर धारण किया था, आज वह पुँछ गया है। वह बेचारी जान भी न पाई कि क्या हो गया। देखते-ही-देखते रूप-वाटिका को पाला मार गया, यौवन का हरा-भरा, लहलहा खेत बिना सिंचाई के ऊजाड़ हो रहा है। उसका सारा शृँगार, आमोद-प्रमोद, सुख-लालसा, सभी उसके पति के साथ ही उसका संग छोड़ गए हैं। अब उसके काले काले बालों को दो भागों में सुघराई से बाँटने वाली माँग में वह सिंदूर की मोहक लाली नहीं, सीधी-सादी, सरल उज्ज्वलता है। जिन आँखों में पहले विष और अमृत दोनों के कुण्ड थे, आज उन्हीं में विश्व-भर का प्रेम संचित है। अधरों पर पान की लाली नहीं, जीवमात्र पर दया की, करुणा की, वात्सल्य की मुस्कान खेल रही है। अब उसे किसी से राग नहीं, द्वेप नहीं, मोह नहीं। अपने पथ पर वह स्यम् चली चलना चाहती है, राह में किसी सहयात्री का मिलन उसके लिये कष्ट कर होगा।

कुंदन का हृदय श्रद्धा से भर गया। महादेई के पलँग के पायताने बैठकर उसने महादेई के पैर दबाने आरम्भ किए। साथ ही उसे भय भी हुआ। महादेई की अवस्था देखकर वह सिहर भी उठी। क्या मैं भी कभी इसी दशा में हो जाऊँगी? क्या मेरा भी सिंदूर यों ही पुँछ जायगा? सुहाग की चूड़ियाँ

क्या यों ही टूटकर इधर-उधर बिखर जायँगी ? उसने मन-ही-मन कृष्णशंकर के चिरजीवित रहने की भगवान् से प्रार्थना की। किंतु इसका क्या कारण था! केवल हिन्दू-नारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अतिरिक्त और इसे क्या कह सकते हैं। अपने पति के प्रति एक हिन्दू-महिला जो पुण्य-भावना हृदय में पालती रहती है, प्राचीन संस्कारों ने और घर के बड़े-बूढ़ों की शिक्षा ने जो एक गुलामी का पाठ उसे पढ़ाया है, वह भीषण विपत्तियों में भी जाग उठता है।

कुन्दन ने धीरे से पुकारा—"जीजी !"

महादेई ने करुण स्वर में कहा—"क्या है बहन !"

कितना मीठा संबोधन था! यह पहला ही अवसर था, जब कुन्दन ने महादेई के मुख से ये शब्द सुने। महादेई उस समय उसे वास्तव में अपनी सगी बहन जान पड़ी।

कुन्दन—"जीजी जो होना था, वह हो गया; अब रो-रोकर दिन काटने से क्या लाभ ? सुरेश बाबू और मालती बीबी को देखकर संतोष करो।"

महादेई फूट-फूटकर रो पड़ी। दुखी हृदय के सबसे बड़े सहायक आँसू होते हैं, और इसीलिये जैसे महादेई की आँखों में आँसू सदैव निकल पड़ने को प्रस्तुत रहते थे। करुण स्वर में बोली—"बहन, आज मैं अनाथ हो गई। मेरी सारी शक्ति उन्हीं के साथ चली गई। अपनी उसी शक्ति के मद में मैंने तुम्हारे साथ, सुरेश और मालती के साथ बड़ा अन्याय किया।

क्या आज मेरी यह असहाय अवस्था देखकर भी मुझे क्षमा न करोगी? मैं यह समझती थी कि "वह सदा इस पृथ्वी पर बने रहेंगे। मेरे इसी मोह ने मेरी यह दुर्दशा की है बहिन!"

कुन्दन—"जाने दो जीजी, कैसी बात कहती हो। मैंने त कभी तुम्हारी बात का बुरा नहीं माना। तुम बड़ी हो, पूज्य हो। पहले भ ऐसा समझती थी और, अब तो और भी तुम्हारी चरण-सेवा में अपना सुख समझती हूँ। तुम अपनी तबियत सँभालो, बेबात की बात से क्या लाभ है?"

महादेई का अन्तःकरण उसे धिक्कार रहा था। उसने सदैव शासन किया था, स्वप्न में भी उसे इसकी आशा न थी कि सोने का महल यों धूल में मिल जायगा। उसने पाप किया था, अन्याय किया था अवश्य, परन्तु लालाजी के जीवन-भर उसे अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करने का अवसर ही नहीं मिला था। आज उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही थी। उसका मन अपने दोषों पर पछता रहा था। बोली—"बहू, मुझे उनके अन्तिम शब्द नहीं भूलते। उन्होंने कहा था, महादेई, मेरे दोनों बच्चे मेरा न मरना जान सकें। आह! इन शब्दों में कितना उलाहना छिपा था। मैं अब तक उन्हें अपना शत्रु समझती आई, कभी प्रेम से बात तक न की, सदा झिड़कती रही। फूल से बच्चे सब सहकर भी चुप रहे। आज वह अभिमान मेरा धूल में मिल गया। जीवन के कगार पर खड़ी

मैं अपने भविष्य की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देख रही हूँ। भयानक अन्धकार के सिवा और कुछ नहीं। मेरी कठोरताएँ पिशाच-रूप बनकर मेरी ओर बढ़ी चली आ रही हैं। मुझे क्षमा करो बहन, मैं बड़ी पापिनी हूँ। कहाँ है मेरा बच्चा सुरेश, उसे मेरे सामने बुलाओ। एक बार उसे देखना चाहती हूँ। बहन, ज़रा उसे बुला दो।"

कुन्दन ने जाकर सुरेश के कमरे में झाँका, वह चारपाई पर सोया हुआ था। कुछ क्षण तक वह अपने आराध्य देव को देखती रही। उसके मन में आज एकान्त पाकर जाने क्यों आसुरी प्रवृति का आन्दोलन आरम्भ हुआ। आई थी वह सुरेश को बुलाने, पर सब कुछ भूलकर निर्निमेष उस सुप्त सौन्दर्य को निहारने लगी। उसका अङ्ग-अङ्ग फड़क रहा था। विचारों का द्वन्द्व आरम्भ हुआ—यह पर-पुरुष है, इसे मैं क्यों देख रही हूँ? उस दिन पतिदेव ने क्या सीख दी थी! विधाता द्वारा दी हुई वस्तु पर ही मुझे सन्तोष करना चाहिए। पर यह विचार अधिक समय तक उसके मन में न टिक सका। वह जितना ही अपनी इच्छाओं का दमन करती, जितना ही अपने आसुरी विचारों पर विजय पाना चाहती, उतनी ही उसकी यौवन जनित स्वाभाविक लालसाएँ उग्र होती जातीं। उसने सोचा—एक बार भर पेट देख लेने में क्या हानि है। सौन्दर्य का निर्माण केवल इसीलिये हुआ है कि चार आदमी उसे देखें, और सराहना करें। फिर मेरे मन में कोई कुवासना

नहीं है, मैं इनसे शुद्ध प्रेम करती हूँ। सच्चे मन से प्रेम करने वालों की सहायता भगवान् भी करते हैं। नहीं, इसमें डरने की कोई बात नहीं। आज मैं अपनी बहुत दिनों की अतृप्त प्यास बुझाऊँगी। मुझे अब कोई नहीं रोक सकता।

वह घुटने टेककर सुरेश की चारपाई के पास बैठ गई। उसकी आँखें बन्द होती जाती थीं। उनमें से एक विचित्र प्रकार की मदिरा ढुलकी पड़ती थी। वह कितनी देर तक उस मुख को यों ही देखती रही, यह उसे ध्यान नहीं। ध्यान आया तब, जब उसके मुख पर सुरेश की श्वास निरंतर पड़ रही थी। उसने चौंककर देखा, उसका मुख सुरेश के मुख पर झुका हुआ है, और दोनों के अधर मिलकर शीघ्र ही एक होना चाहते हैं। उसने अपने को रोकने की सतत चेष्टा की, पर असफल रही। वासना नग्न रूप में सामने आ खड़ी हुई। धीरे-धीरे, रुकते-रुकते, उसने सुरेश के वह मादक, प्यार से फूले हुए, अछूते अधर चूम लिए।

सुरेश तमककर उठ बैठा। अपने सामने उसने जो देखा उससे उसका आश्चर्य और भी बढ़ गया। उसका हाथ होठों पर गया, वे अब भी गीले थे। क्षण-भर में ही वह सारी परिस्थिति समझ गया, फिर भी सहसा उसे इस कांड की सत्यता पर विश्वास न हुआ। उसने पांव चारपाई के नीचे लटका लिए, और हँसते-हँसते बोला—"चाची, क्या कर रही हो। बड़ी देर से बैठी हो क्या ?

कुन्दन को सुरेश की इस सरलता पर श्रद्धा होने लगी, और साथ ही अपने पाप-कर्म पर ग्लानि भी हुई। वह कहीं छिपने की जगह चाहती थी, परंतु उसका वह प्रयास व्यर्थ था। उसकी दशा उस समय ऐसी हो रही थी, जैसे कोई चोर ठीक सेंध लगाने के ही समय पकड़ लिया गया हो। मारे क्षोभ के उसके मुँह से बोली नहीं निकल रही थी, फिर भी किसी तरह वह बोली—"सुरेश बाबू, इस समय मैं पशु बन गई थी, उचित-अनुचित का ज्ञान मुझे भूल गया था। कितने दिनों से यह कामना हृदय में पालती आ रही थी, आज अवसर देखकर मैं न रुक सकी। यहाँ, इस दिल पर हाथ रखकर देखो सुरेश, इसकी क्या दशा है। जरा कान लगाकर इसकी दर्द-कथा सुनो। आज हद हो गई थी। मेरी लालसाओं ने मुझे उकसाया, और उसी बेहोशी में मैंने जो कुछ कर डाला, आह, कैसे कहूँ!"

अब सुरेश को पता लग रहा था कि कुन्दन क्यों आरंभ से ही उसे इतना प्यार करती आ रही है। अभी तक वह उसे शुद्ध प्रेम, मातृत्व और वात्सल्य का प्रदर्शन ही समझता था, पर यह उसकी कितनी बड़ी भूल थी! अब उसे दिखाई दे रहा था कि इस प्रेम के मूल में वासना का कितना बड़ा हाथ था। अब सारा रहस्य पुस्तक के पन्नों की तरह उसके सामने खुला पड़ा था। बोला—"किन्तु चाची, तुम्हें यह क्या सूझा! मैं समझता हूँ, चाचाजी तुम्हें बहुत अधिक मानते हैं। उनके

प्रति आज तुमने जो इतना बड़ा विश्वासघात किया है, उसके लिये क्या तुम्हें कुछ भी शरम नहीं ? सोचो तो।"

कुंदन की रोते-रोते हिचकियां बँध गई थीं। बोली—"बाबू, यह मैं जानती हूँ और मानती भी हूँ कि वह इस संसार में सबसे अधिक मुझे प्यार करते हैं, मेरे लिए उनका रोयां-रोयां मंगल मनाया करता है। समय आने पर मेरे लिये वह प्राण भी दे सकते हैं, पर आह! मेरा उनका कोई सहश्य नहीं। तुम्हीं देखो, मेरे सामने वह कितने हीन जान पड़ते हैं। मैं प्रेम की भूखी, दीवानी, वह विद्वता और पांडित्य के नशे में चूर, पागल! मुझे बरबस उनसे प्रेम करना पड़ता है। मैं मन-ही-मन तुमसे प्रेम करती थी, आज से नही, बल्कि जब से आई, तब से। परन्तु तुमने मेरी ओर ध्यान भी नहीं दिया। आज मैंने अपने इस कृत्य से तुम्हारे हृदय पर प्रेम की एक अमिट छाप डालनी चाही है, क्या तुम इसे स्वीकार करोगे ? सुरेश बाबू, तुम्हारा उत्तर मेरे जीवन-मरण का प्रश्न होगा। तुम्हारी एक हां और न पर मेरा भविष्य-जीवन अवलंबित है। आज तुमसे एक नारी प्रेम की भिक्षा मांगती है। उसका अनुरोध टाल दोगे ?"

सुरेश उलझन में पड़ गया उसके सामने रेणु का मुख स्पष्ट हो गया। वह उसके साथ विश्वास घात कैसे कर सकेगा। उसने सारी बातें कुंदन के सामने स्पष्ट रख देनी चाहीं, इसी आशय से बोला भी—"चाची, ऐसी त्रिकाल में भी असभव और

अशुभ बातें क्यों मुँह से निकाल रही हो ! एक माता और पुत्र के पवित्र, गौरवमय पद को लज्जित न करो। इस तरह के प्रेम-सबंध की कल्पना मे भी प्रलय उठ जायगा चाची ! नारी-शब्द का इतना भयंकर अनादर न करो, कुछ तो लज्जा निबाहो। साथ ही मैं सब कुछ कर सकता हूँ, पर किसी निर्दोश के साथ विश्वासघात करके तुम्हारे जैसा पाप अपने ऊपर भी नहीं लादना चाहता। मैंने जीवन-भर में केवल एक को प्यार किया है, और वह है, रेणु। हम दोनों के हृदय कब के एक हो चुके हैं। उस एक हुए हृदय में किसी तीसरे के लिये स्थान ही नहीं। मेरी आदरणीय चाची, क्यों मुझे कांटों से घसीट रही हो ? मैं तुम्हारा पुत्र हूं। मेरा-तुम्हारा प्रणय-मिलन इस जन्म में तो क्या, कभी नहीं हो सकता।'

कुंदन को जैसे काठ मार गया। उसने एक बार आंखें सुरेश की ओर उठाईं, मानो पूछ रही हो—क्या यही मेरे प्रणय का उत्तर है ! फिर वे आंखें झुक गईं। इस घर में रहने का अब उसका साहस न होता था। क्या मुँह लेकर किसी के सामने जायगी ! और तो और, पति के सामने यह कलंकित शरीर लेकर जाने से अच्छा तो यही होगा कि ज़हर खाकर सो रहे। न, अब वह इस घर में न रहेगी। आज ही यह घर छोड़ देगी।

वह उठकर पति के कमरे में गई, उनकी एक छोट-सी तसवीर ली, एक पत्र लिखा, और अपने कुछ कपड़े लेकर

बाहर निकल आई। उसकी आत्मा इस समय उसे प्रताड़ित कर रही थी। उसे जान पड़ता था, मानो घर की प्रत्येक वस्तु उसे घृणा की दृष्टि से देख रही हैं। सब जैसे उस पर हँस रहे हों, लांछित कर रहे हों। थूक रहे हों, उसका दम घुटने लगा।

सध्या को, जब रजनी दिन-भर की निद्रा के बाद आकाश में अँगड़ाई लेती हुई उठ रही थी, कालिमा फैलती जा रही थी, ठीक उसी समम एक युवती, अन्धकार की सघनता में अपने को छिपाए हुए, नगर की सीमा के बाहर तेजी से चली जा रही थी।

जैसे सबका विवाह होता है, वैसे मालती का भी हुआ। जैसे सब ससुराल जाते हैं, वैसे वह भी गई, किंतु जैसे सबके पति होते हैं वैसे उसके पति नहीं थे। बाप का इकलौता बेटा, रुपये को सदैव पानी-सा बहानेवाला, चंचल, रसिक तबियत का। स्त्रियाँ उसके लिये केवल विनोद, मनोरंजन और खिलवाड़ की सामग्री थीं। उनके हृदय में कोई छिपी अनुभूति, कोई कोमल भावना, कोई प्यार का स्वप्न है, यह समझने का उसे कभी अवसर नहीं मिला था। यह बात न थी कि वह मालती का ध्यान न रखता था, बल्कि मन-ही-मन वह उसे अपनी आराध्य देवी मान चुका था, किंतु उसकी चंचल मनोवृत्ति उसे एक स्थान पर टिकने न देती थी। उसने एक दफ्तर में नौकरी भी कर ली थी, इसलिये नहीं कि उसे रुपये की कमी थी, बल्कि इसलिये कि इसे वह अपनी पत्नी, अपने पिता और माता के प्रति एक आवश्यक कर्तव्य समझता था। अपनी पत्नी के साधारण व्यय के लिये बाप के सामने हाथ फैलाना वह अपने पतित्व के आत्मसम्मान के विरुद्ध समझता था।

वह यह जानता था कि उसकी स्त्री पढ़ी-लिखी है, गुणी है, रूपवान् है। ऐसे प्राणियों का व्यय साधारण लोगों से कुछ अधिक हो, इसमें वह कोई अनौचित्य नहीं देखता था। मन-ही-मन वह मालती को पूर्णरूपेण सुखी देखना चाहता था। वह यह अनुभव कर चुका था कि उसकी नित्य नूतनता की प्रेमी मनोवृत्ति उसे किसी एक ही व्यक्ति पर अपना सम्पूर्ण प्यार केन्द्रित कर देने में सदैव बाधक होगी। साथ ही वह यह भी जानता था कि एक हिन्दू-नारी का, यदि वह एकदम गिरी हुई और हीन नहीं है, समस्त सुख उसके पति पर ही अवलम्बित है, जिसे देने में वह असमर्थ था। एक ओर की कमी को वह दूसरी ओर पूरी कर देना चाहता था। अपना पूर्ण पतित्व मालती के हाथों में सौंप देने में अपने को असफल समझकर वह उसे अन्य सांसारिक सुखों से लादकर यह अवसर भी न देना चाहता था कि वह अनुभव करे कि उसका पति उससे विमुख है। विवाह के बाद भी पहली रात को जब एक सुसज्जित प्रकोष्ठ में उसने तन्द्रालालस मालती को देखा था उस समय एकबारगी ही उसने अपना हृदय उस पर निछावर कर दिया था। इसलिये नहीं कि वह उसकी पत्नी है, और उसे प्यार करना ही चाहिए, बल्कि इसलिये कि वह एक ऐसी अभागिनी युवती है, जो अपने पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, घर-द्वार सब छोड़कर चली आई है एक अपरिचित व्यक्ति के साथ जिसके संग उसकी जीवन की डगमग नैया इस विश्व में

तिरेगी। उस अर्द्ध-निद्रित युवती का रोम-रोम पुकारकर कह रहा था कि मुझे प्यार करो, मैं इसलिये बनी हूँ। तुम्हें प्यार करना ही होगा। उसके अलस बाहुओं का बन्धन जैसे किसी को बरबस अपनी ओर खींच रहा था। उससे अधिक न देखा गया। सामने पड़ी हुई पत्नी को, जो उसके आगमन से सर्वथा अनभिज्ञ थी, धीरे से हिलाकर पुकारा--"मालती !"

पति के प्रथम स्पर्श की मधुरिमा और लज्जा का पूरा-पूरी अनुभव करती हुई मालती ने उत्तर देना चाहा, पर उसके ओंठ न खुल सके। जिस मानव-मूर्ति को वह अपने सामने देख रही थी, वही उसका सब कुछ है, और उससे अधिक लज्जा करना हितकर न होगा, यह वह जानती थी, किन्तु जिससे कभी का परिचय न हो, उसके सामने मुँह न खुलना कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं। वह खुलकर उस ओर देख न सकी। लज्जा की एक हलकी सी रेखा उसके चेहरे पर दौड़ गई। कपोल अरुण हो उठे।

पति ने पुनः पुकारा—"मालती !"

मालती इस बार भी चेष्टा करने पर न खुल सकी।

पति का उतावला युवक हृदय अब और न सह सका। पत्नी के इस सहज-स्वाभाविक मौन को वह अपने प्रति तिरस्कार समझने लगा और रूठकर बोला—"तो मैं जाता हूँ। यहाँ दीवारों से बात करने नहीं आया था।"

और तभी पीठ फेरते ही उसने देखा कि मालती के बड़े-बड़े

आयत लोचनों में कुछ अनुनय की, विनय की, अवरोध की झलक है। वह चाहती है, वह पूरी रात वहीं बना रहे, पर स्पष्ठ कह नहीं सकती। उसका वश चले, तो अभी, इसी समय, इसी स्थान पर, पति को अपने हृदय में रख ले, पर युग-युग के संस्कारों की कठोर शृंखला को तोड़ डालना, क्षण-मात्र में ही टुकड़े-टुकड़े कर डालना, उसके लिए सहज संभाव्य भी तो नहीं। वह एक हिंदू-अबला है, जिसके चारों ओर नियमों का, बंधनों का और संकीर्णता का जाल बिखरा है। रमेश का हृदय सहसा अपनी भूल पर लज्जित हुआ। बोला—'क्यों, तुम्हें कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई? दिन-भर लोगों के आते-जाते रहने से आराम भी तो न कर पाई होगी! अच्छा, सोओ; जरा स्वस्थ हो लो, तब बातें होंगी।

मालती कैसे कहे कि अब उसका सारा आराम रमेश के ही साथ है। कैसे बताये कि यह इतने लोगों का आना, धूम-धाम जिसको लेकर हो रहा है, उसी के साथ आराम करने के लिये ही तो वह भेजी गई है। अब तक वह कुमारिका थी। अब वाह विवाहिता है। किसी पुरुष के साथ मिलकर बैठने में जो अनावश्यक अनौचित्य अब तक था, वही एक दिन में बल्कि क्षण मात्र में कुछ मंत्रों और ऋचाओं के बल पर औचित्य करार दे दिया गया है, और उसे इसमें अब किसी प्रकार की लज्जा अथवा अनियम समझने की बड़ी आवश्यकता नहीं है, यह वह कैसे उस सामने खड़े पुरुष पर व्यक्त करे। अब तक उसका

अकेले रहना क्षम्य था, किंतु अब अपराध है। बोली—"नहीं, मैं स्वस्थ हूं। आप बैठें।"

उस दिन रमेश ने अपने को एक कर्तव्य के बंधन में जकड़ा पाया। घर में एक नया प्राणी आया है, जिसकी पूरी-पूरी जिम्मेदारी उस पर है, यह वह अनुभव करने लगा। किंतु जैसा उसका स्वभाव था, वह एक बार ही अधिक समय तक किसी बात पर टिक न सकता था। यह उसकी दुर्बलता थी, जो आगे चलकर दूषण बन गई। रात के पिछले पहर में शय्या के आधे भाग में सिकुड़ी हुई उस दीना-हीना युवती को देखकर उसके मानस-नेत्रों के सामने वह संसार आ जाता, जिससे अब तक वह परिचित रहा था। नारियों का समूह, जो अर्द्ध-नग्नावस्था में अपना प्यार चांदी के गोल टुकड़ों पर लुटाता चलता है। जिनके पास केवल अशिष्ट हाव-भाव, अभद्र वस्त्रावलि और विलास-वासना का वैभव है। वह सोचने लगता कि वेश्याओं में और एक कुल वधू कही जाने वाली में क्या अन्तर है। दोनों अपने सतीत्व का विक्रय करती हैं अन-जाने पुरुषों के हाथ, पर एक तो सीमा में घिरकर अपना सब कुछ दान देती है, और दूसरी खुले आम अपना सौदा करती है। यह भी नारी है और वह भी नारी। पुरुष इस विक्रय के बदले में उन्हें क्या देता है ? केवल आराम, सुख, धन और वैभव! घर की बंद नारियों से अच्छी तो वे पतिता कही जाने-वाली नारियाँ हैं, क्योंकि वे केवल अपना शरीर ही बेचती हैं।

हमारी घर की महिलाओं को तो अपना मन भी बरबस बेच देना होता है।

किन्तु तुरंत ही वह पुनः सोचता—लेकिन नारी है क्या? क्या केवल सुख, आराम और धन के ही लिये एक नारी अपना सर्वस्व एक पुरुष पर अर्पण कर देती है? क्या ऐसी नारियाँ नहीं हैं, जो भीषण दरिद्रता में भी, पति की अत्यन्त हीनावस्था में भी उसके चरण पूजती रहती हैं? जो उन्हें नहीं चाहता, जो उनसे घृणा करता है, उसका भी मुँह जोहती रहती हैं? जो अलग बैठकर मन-ही-मन अपने भाग्य पर जी भरकर रोती हैं, किंतु पति के सामने आते ही कुमुदिनी-सी खिल जाती हैं?

ये ही सब बातें सोच-सोचकर वह मालती को प्रसन्न करने की अनवरत चेष्टा करता, उसके मुख पर चिंता की एक रेखा भी न आने देता। मालती के प्राणों के लिये वह अपने प्राण भी देने को तैयार हो जाता, किंतु कभी-कभी गंभीर रात्रि के सन्नाटे में एक दबी हुई आह सुनकर जब वह उसकी ओर देखता, तब मालती की आँखों के आँसू बरबस ही पृथ्वी पर ढुलक पड़ते। वह उन्हें रोकने की सतत चेष्टा करती, किंतु असफल रह जाती। रमेश के बहुत पूछने पर भी वह इस रहस्य को न खोल सकी, और रमेश प्रतिदिन इस चिंता में निमग्न होने लगा। मालती को कौन दुःख है, वह इस प्रकार नीरव और मूक भाषा में कभी-कभी क्या कह

उठती है, और तारों-भरी रात में, चन्द्रमा की धवल-विमल सुधा-धारा में उसके हृदय से एक गंभीर प्रश्वास क्यों निकल पड़ता है, इस रहस्य का पर्दा हटाने के लिये वह निरंतर उत्सुक रहने लगा। वह देख रहा था, मालती सब काम करती है। उसकी सेवा करती है, खाती-पीती है, हँसती-बोलती है, किन्तु जैसे सब एक मशीन के द्वारा संचालित हो। वह धीर-गभीर युवती किसी बात पर इसलिये नहीं हँस पड़ती कि उसे हँसी आती है, बल्कि इसलिये कि उसे हँसना चाहिए, क्योंकि दुनिया उससे यही चाहती है।

एक दिन वह भी आया, जब इस रहस्य का उद्घाटन स्वयं हो गया। उस दिन रमेश देर से सोकर उठा था। चाय पीने की नित्य आदत थी, अतः आठ बज जाने पर भी उसने चाय पी, बाहर के कमरे में बैठकर एक सिगरेट जलाई, और एक समाचार-पत्र पढ़ने लगा। भीतर मालती उसका कमरा ठीक कर रही थी। डाकिए ने पत्रों का बंडल लाकर दिया। उसने पिता के पत्र अलग कर दिए, और अपने पत्र देखने लगा। एक पत्र मालती के नाम का था। उस पर अपरिचित व्यक्ति के हाथ की लिपि देखकर उसे कुतूहल हुआ, और उसने उस पत्र को खोल डालने की नीचता की। भीतर से एक छोटी-सी फोटो नीचे गिर पड़ी, जिसके नीचे लिखा था—मोहन। रमेश ने देखा, एक भोलाभाला युवक है, जिसकी आँखों से विचारों का संघर्ष स्पष्ट प्रकट हो रहा था, मुख पर

एक ऐसी ज्योति थी, जिसकी आँच में पड़कर जीवन की सारी कटु अनुभूतियाँ आनन्द की शतमुखी धारा में चमक उठें। वह एकबारगी ही उस अपरचित युवक की ओर आकृष्ट हो गया। उसने साथ का पत्र खोजा, टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में, जैसे बहुत जल्दी में लिखा हो, लिखा था—

"मालती,

आशा है, तुम सुखी होगी। नए घर और नए परिचितों ने तुम्हें अब तक अपने में उलझा लिया होगा, यह विश्वास है। मैं तुम्हें कुछ आदेश तो नहीं दे सकता, क्योंकि अब वैसा अधिकार ही नहीं रह गया है, किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि जिन महाशय के हाथ तुम्हारे जीवन की बागडोर बाँध दी गई है, उन्हें सदैव अपना सर्वस्व जानना। मेरे लिये अपने हृदय के किसी कोने में कोई भी कोमल भावना न रखना। अब इसी में कल्याण है।

हाँ, एक चित्र नया उतरवाया है, भेजता हूँ। न भेजकर तुम्हारे प्रति अन्याय करता। स्वीकार करना और पत्र का उत्तर हो सके, तो देना। अपने पति से मेरी नमस्ते कह देना।

तुम्हारा कभी का कोई—मोहन।"

रमेश का मुख पूरा पत्र पढ़ते-पढ़ते तमतमा आया। यह कौन युवक है, जो उसकी पत्नी पर इतना अधिकार रखता है कि उसे आदेश देने का साहस करता है! साथ ही जिसे फ़ोटो भेजने में भी तनिक संकोच न हुआ! यह मोहन नाम

तो कुछ परिचित-सा नहीं जान पड़ता। क्या मालती के प्रेम का भागीदार कोई और भी है? क्या इसी युवक के ही लिये तो उसकी आँखों से आँसुओं की अजस्र वर्षा नहीं होती रहती, क्या इसी ने तो उसके एकान्त प्रेममय जीवन में भेद की भावना नहीं भरदी है? उसे मालती के चरित्र पर सन्देह होने लगा। जहाँ उसकी चिन्तित अवस्था के लिये सहानुभूति सांत्वना और सहृदयता थी, वहाँ अब वह उसके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक दृष्टि और प्रत्येक का संशय की, कपट क", छल की भावना अनुभव करने लगा। उसे जान पड़ा, मालती अब तक उससे दुराव और मन-ही-मन उस युवक की पूजा करती आ रही है। वह चंचल और असहिष्णु वृत्ति का व्यक्ति था, अतः उसके लिये किसी की दुश्चरिता का प्रमाण इस तरह का एक पत्र ही पर्याप्त था। उसी के आधार पर उसने मालती के ऐसे भयंकर-भयंकर अपराधों का स्तूप खड़ा किया, जिसके समक्ष उसके समस्त सद्गुण नगण्य हो गए। वह मालती से इस विषय की सफाई करा लेना चाहता है। यदि वास्तव में कोई ऐसी बात है, तो वह उसका मुँह भी न देखेगा।

भीतर मालती कमरा साफ करते-करते जब मेज के पास पहुँची, और एक-एक पुस्तक उठाकर उसकी गर्द झाड़ने लगी, तब सहसा उसके मन में विचार आया कि आखिर वह रमेश की दृष्टि में क्या है। वह उसके लिये दिन-दिन-भर

दफ्तर की फाइलों के साथ लडता है, उसके सुख के साधन जुटाने में व्यग्र रहता है, उसकी प्रत्येक गति-विधि पर स्नेह की मंजुल दृष्टि रखता है, यह क्यों? और उसके प्रतिदान में वह उसे क्या दे रही है? केवल एक कलुप-भरा प्यार! एक दिन भी तो वह उसे सच्चे हृदय से पति नहीं मान सकी। रात के नीरव क्षणों में पतिदेव के पर्यंक पर पड़ी हुई वह कितनी ही बार एक दूसरे युवक के लिए भगवान् से मंगल-कामना कर चुकी है, किसी अज्ञात कल्पना से उसका मानस अभिभूत हो चुका है, और उनके कुछ पूछने पर अन्यमनस्क सी वह कुछ-का-कुछ उत्तर दे चुकी है। यह क्या यह प्रकट करने के लिए पर्याप्त नहीं कि वह उनसे छल कर रही है? पाप नाम की यदि कोई वस्तु संसार में है, तो उसका यह कपटाचरण क्या उस श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकेगा? सोचते-सोचते वह एकान्त निमग्न हो गई, और उसका ध्यान तब टूटा, जब मेज पर की एक पुस्तक उसका हाथ लग जाने से नीचे फर्श पर गिर पड़ी। वह उसे उठाने के लिये झुकी, किंतु उसका ध्यान नीचे पड़े हुये एक कागज के पुर्जे की ओर चला गया, जिस पर केवल इतना ही लिखा था—वादे के अनुसार फोटो भेजती हूँ। यदि किसी दिन अवकाश हो, तो दर्शन देने की कृपा करें। इसके बाद अँगरेजी में के० लिखा हुआ था। मालती का सारा विचार-क्षेत्र पल-मात्र में ही संकुचित हो उठा। वह एकदम उस फोटो को खोज पाने

के लिए विकल हो उठी। उसे अपने अपमान का स्पष्ट प्रमाण मिल चुका था। क्या हुआ, यदि चित्र न भी मिला, तो भी उसके पास पति के चरित्र-हीन होने का सबल प्रमाण था। उस पुर्जे को हाथ में लिए-लिए वह अनुभव करने लगी, जैसे उसके हाथ में तप्त अंगारे रक्खे हों। पत्र का प्रत्येक मसि-बिंदु उसे अपने भाग्य के भविष्य का काला चिन्ह जान पड़ने लगा। उसके पति किसी दूसरी युवती को प्यार करते हैं, और उसे केवल भुलाए रखने के लिये उसके सामने स्नेह का प्रदर्शन करते हैं, इसमें उसे अब संदेह न रहा। इसी तर्क-वितर्क की मानसिक उलझन में उसने उस दिन भोजन नहीं किया और संध्या से ही अपने कमरे में आ लेटी।

रात को दस बजे जब रमेश मेज के सामने बैठा हुआ सिगरेट-पर-सिगरेट फूंकता जा रहा था, और धुएं के काले बादलों के बीच से बात आरंभ करने की कोई गंभीर रीति सोच रहा था, तभी सहसा मालती बोल उठी—"धुएं से सारा कमरा भर देने से किसी गैर को भी कुछ थोड़ा-सा कष्ट हो सकता है, शायद यह सोचना आप अपना कर्तव्य नहीं समझते।"

यह स्वरावलि और यह वाक्य-विन्यास रमेश का परिचित न था। वह अपनी बात कहना भूल गया, और बोला—"ओह, माफ करना।" और तभी वह लैंप बुझाकर, करवट लेकर लेट रहा।

आँधी इतनी जल्दी शांत हो जायगी, यह मालती ने नहीं सोचा था। वह बात बढ़ाना ही चाहती थी। बोली—'मैं पूछती हूँ, आखिर मेरा अपमान करके तुम्हें क्या मिल जायगा? चुपचाप आँख मूँदे जिसके साथ चली आई हूँ, उसके साथ जन्म-भर रहना ही होगा, ऐसा तो कोई बंधन मेरे लिये नहीं। तुम्हें यदि मेरा साथ पसंद नहीं, तो मैं तो यह जबरदस्ती नहीं कहती कि तुम मेरे बने रहो किन्तु अपनी आँखों के सामने, अपने ही घर में अपना इतना बड़ा अपमान सहकर चुप रह जाने की शिक्षा मुझे नहीं मिली।"

रमेश कुछ न समझ सका। इतना अवश्य है कि स्वयं जो अब तक कहने को सोचता आया था, वह अपने ऊपर नया आरोप लगते देखकर वह एकदम भूल गया। शांत-संयत स्वर में बोला—"मैं तो कुछ नहीं समझा। यह अपमान की क्या बात है?"

मालती—"हाँ, क्यों समझोगे। किन्तु अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने का यह अनोखा ढग तुमने मुझे सिखाया है।" इतना कहकर उसने वह पुर्जा रमेश की ओर बढ़ा दिया।

रमेश के काटो, तो खून नहीं! यह उस वेश्या का पत्र था, जिससे विवाह के पहले उसका क्षणिक संबंध हो गया था, और जिसे अब तक भी वह भी बिलकुल नहीं भूल सका था। यह बात दूसरी थी कि विवाह हो जाने के बाद उसकी विवेक-

शील आत्मा ने अपने को सब ओर से खींचकर मालती पर ही जमा दिया था, किन्तु उस पतिता नारी के नाम के आकर्षण को वह मिटा नहीं सका था। अब भी कभी-कभी किसी गत स्मृति से वह रोमांचित हो उठता था। मेज पर उस पुर्जे को पड़ा रहने देने की क्षणिक भूल का इतना भयकर दुष्परिणाम होगा, यह वह नहीं जानता था। अब वह पछता रहा था, किंतु साथ ही मालती ने जो एक आरोप उसके ऊपर लगा दिया था, उसका उत्तर भी देना चाहता था। यह मनुष्य का स्वभाव है। स्वयं सब कुछ करते रहने पर भी हम यह नहीं बरदाश्त कर सकते कि कोई दूसरा भी वही काम करे। अपने को समस्त सद्गुणों का देवता समझने की भावना जब से मानव-जाति में आई, और दूसरे के प्रत्येक कार्य में संशय की गंध उसे आने लगी तभी से उसका जीवन साक्षात् नरक हो उठा है। ऐसे बिरले ही हैं, जो दूसरे के भले-बुरे, हरएक काम को उड़ती नजर से देख लेते और अपनी राह चल देते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय, तो आत्मा की सच्ची शांति उन्हीं को प्राप्त होती है, जो इन सबसे अपने को ऊपर उठा लेते हैं। रमेश ने जेब से मोहन का पत्र निकाला, और मालती के आगे बढ़ाकर बोला—"और यह क्या है? विवाह के बाद एक ऐसे व्यक्ति से, जो तुम्हारा सगा नहीं, संबंधी नहीं, पत्र-व्यवहार करने का आशय क्या मैं जान सकता हूँ? यह ठीक है, वह मुझसे

अधिक रूपवान् होगा, गुणी होगा, धनी होगा, सब कुछ होगा, किंतु अपनी गलती अथवा दूसरों की जिद से जब एक के साथ बाँध दी गई हो, तब उसे सब कुछ मानना ही होगा, मैं यही कहना चाहता था।"

मालती ने पत्र देखा और स्तब्ध रह गई। उसने कहना चाहा कि वह युवक कोई सगा नहीं है, संबंधी नहीं है, अपना नहीं है, यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि अब तक सबसे बड़ा सगा, सबसे निकट संबंधी और सबसे अधिक अपना वह उसी युवक को बना सकी है। वह सोचने लगी—आखिर मोहन को यह क्या सूझा ?

यदि वह पत्र न लिखता, तो आज क्षण-मात्र में ही संदेह की इतनी विकट सृष्टि न हो पाती। उसकी सीधी-सादी निरीहता और सहृदयता का मूल्य इतने भयंकर आरोप से चुकाया जायगा, यदि इस परिस्थिति का उसने अनुभव किया होता, तो सम्भवतः पत्र न लिखता। किंतु वह निर्दोष है, उसकी निष्कपट भावुकता का यदि पुरुष-समाज पतित्व की भावनावाला समाज कोई दूसरा ही अर्थ लगाता है, तो इसके लिये वह क्यों उत्तरदायी हो! पुरुष स्वयं राम भले ही न बन सके, किंतु अपनी स्त्री को वह सीता ही बनाना चाहता है। वह बरबस चुप रह गई, और मुख से जबरदस्ती बाहर निकल पड़ने के आतुर उत्तर को पी गई। उसके इस मौन ने रमेश को कुछ सोचने का अवसर दिया। व इस समय बात को

अधिक तूल न देने की इच्छा से बोला—"मालती, हम दोनों ही एक दूसरे के समक्ष अपराधी हैं। हमें पूरी तरह से अपने को समझना होगा।"

सब कुछ तो हुआ, किंतु उस रात संदेह की एक काली छाया ने, जो उन दोनों के हृदय पर छा गई, उनके भविष्य जीवन के सुख का प्रत्येक नाका अनजाने रूप में बंद कर दिया।

———

जीवन भी कितना रहस्यमय है। मनुष्य अपने आप उलझनों और कूतूहलों की सृष्टि करता है, और दूसरों से उत्तर चाहता है। और, ये ही उलझन और कूतूहल उसके चार दिन के जीवन को निराशामय, कठोर और दुःख-पूर्ण बना देते हैं। यही जीवन का क्रम है। किसी को इस उलझन से मुक्त नहीं देखा। योगी अपने योग की गुत्थियों को सुलझाने में लगा है, विलासी नित्य नए कूतूहलों की सृष्टि करता है।

कृष्णशकर भी आज ऐसी ही उलझन में पड़े हैं। जिस पत्नी पर उन्होंने अपना समस्त प्यार और प्रेम न्योछावर कर दिया था, जिसे उन्होंने इतने लोगों के सामने अपनी धर्मपत्नी के रूप में ग्रहण किया था, जो उनके लिये प्राण तक देती थी, वही क्षण-मात्र में कैसे इतनी कठोर हो गई! ऐसा कौन-सा कारण था, जिससे उसे घर छोड़ने को बाध्य होना पड़ा? आज तीन दिन हो गए किंतु उसका कोई पता नहीं। कहाँ जायँ, कहाँ खोजें। तकिए के नीचे जो पत्र मिला है, उसमें भी किसी निश्चित स्थान का पता न था। कई

बार उन्होंने उस पत्र को आँखें फाड़-फाड़कर देखा, शब्दों की उलझन में फँसे, उन स्पष्ट, सरल वाक्यों का अर्थ निकालने की चेष्टाएँ कीं, पर कहीं से वह यह न जान सके कि वह किस ओर गई है। पत्र में जहाँ अन्त में जाने का निर्देश था, उसकी कल्पना-मात्र से ही वह सिहर उठते थे। उन्होंने एक बार फिर पत्र निकाला। साफ, छोटे अक्षरों में लिखा था—

'देवता !

मैंने तुम्हारा अपराध किया है, अतः पत्र लिखने में भी हाथ काँप रहे हैं। हृदय की प्यास ने मुझे विवश कर दिया है, और मैं तेजी से पतन के उस मार्ग पर चली जा रही हूँ, जिसमें पग-पग पर उस प्यास को तृप्त कर लेने का प्रबन्ध है। तुमसे छिपाकर, और अधिक उलझन में डालकर मैं क्या करूँगी। मैं जिस दिन से इस घर में आई, उसी दिन से सुरेश को प्यार करने लगी। उसके सीधे-सादे, निष्कपट व्यवहार ने मुझे मोह लिया। मैं उसकी हो गई। उसके हाथ बिना उसकी इच्छा के बिक गई। तुमसे मैं प्रेम करती थी, किंतु वह बनावटी था। सुरेश ने भी अपने हृदय की सारी कोमल अनुभूतियाँ मेरे ऊपर बिखेर दी थीं, किंतु नाथ! यदि यह पहले जान पाती कि उसकी यह वृत्ति भक्तिपूरित थी! मैं उस समय अन्धी हो गई थी। मैंने उसके पवित्र स्नेह को वासना-जन्य प्रेम समझ लिया, और मेरे इसी मोह ने मुझे उत्साहित किया। पतन की भूखी मैं आज सन्ध्या को, जब

वह कमरे में सो रहा था, उसके पास गई और कहते लज्जा आती है, मैंने उसके पवित्र ओठों का..........किया वह तमक-कर उठ बैठा। उस समय उससे मुझसे जो बातें हुईं, कह नहीं सकती कि उनमें कितनी निष्ठा, कितनी सहृदयता और कितना अकलुष स्नेह भरा पड़ा था। उसने मुझे बताया कि वह अपना हृदय किसी दूसरे को दे चुका है, उस पर अब किसी दूसरे का अधिकार नहीं हो सकता। साथ ही मेरे नीच प्रस्ताव को वह किसी जन्म में भी क्षमा की दृष्टि से न देख सकेगा। अब मैं जा रही हूँ। कहाँ, यह मैं स्वयं नहीं जानती। शायद ऐसी जगह, जहाँ अपना यह कलुषित मुख लेकर सुख से रह सकूँ। जहाँ जगत की पवित्रता और निर्मलता की तेज़ आँच से अपने को बचा सकूँ। मरने का साहस नहीं एकत्र कर पाई हूँ, नहीं तो एक बार उसके लिये भी चेष्टा कर देखती। इतना अवश्य जानती हूँ, अब इस जीवन में आप शायद मेरे इस कलंकित शरीर को न देख सकें। मारे ग्लानि के मरी जा रही हूँ, कैसे आपके सामने आ सकती हूँ? आप साधु हैं, देव हैं, उदार हैं, किन्तु एक अपवित्र, दुश्चरित और कुलटा को अपने साथ रखना शायद हिन्दुओं के देवतों की सीमा के भी बाहर है। समाज देखते ही मुझे फाड़ खायगा, वह पतित को और दबाना चाहता है, उसके साथ सहानुभूति दिखाकर उसे ऊँचा उठाना उसके कर्तव्य-क्षेत्र के बाहर है। मैं बहुत दूर चली जाऊँगी, जहाँ इस निर्मम की छाया तक से

मेरा स्पर्श न हो। वहाँ रहकर अपने पाप का प्रायश्चित करूँगी, देखूँ, सफल होती हूँ या नहीं। आप मुझे फिर पाने की चेष्टा न करें। मेरे देवता, मुझे क्षमा कर देना। मैं जहाँ कहीं भी रहूँगी, रोएँ-रोएँ से तुम्हारा मगल मनाती रहूँगी।

अपराधिनी

— कुन्दन।"

इस स्पष्ट स्वीकार और मौन अनुपात से भरे पत्र को इस बार पढ़ लेने पर कृष्णाशकर की आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। पांडित्य और विद्वत्ता का मोटा परदा, जो मनुष्य की सारी कोमल प्रवृत्तियों और सहृदयता की भावनाओं को अपनी ओट में छिपाकर उसका जीवन एकान्त शुष्क और भाव-हीन बना देता है, इस समय उनकी आँखों से हट गया था। वह देख रहे थे कि इस पत्र का एक-एक शब्द अभी तक कुन्दन की गहरी मर्मव्यथा, सच्चे पश्चात्ताप और हृदयगत वेदना के आँसुओं से गीला है। वह जो एक दिन शान्त भाव से अलस संध्या में पालकी से चुपचाप इस घर को, घर की प्रत्येक वस्तु को, उसके एक-एक प्राणी को अपना मानकर उतर आई थी, उसके सुहाग की ओट में कौन-सा अदृष्ट विधाता अपका कठोर अभिनय कर रहा था, इसे जानने का कृष्णाशकर के पास कोई साधन नहीं रह गया था। एक अयाचित दान की भाँति बिना परिश्रम किए उन्हें वह जो अतुलनीय निधि प्राप्त हो गई थी, वह किसी अज्ञात कारण से

पुनः उनसे छिन जायगी. यह वह यदि जान पाते, तब भी कोई उपाय इस सहसा घटित हो जाने वाली घटना को रोकने का वह कर पाते, इसमें संदेह था। और, तब सहसा उनके उत्तेजित मन ने यह धारणा कर ली कि कुन्दन के इस प्रकार निकल खड़े होने में, इस तरह निराश्रय, निःसंबल भाग जाने में उनका, समाज का और धर्म का ही सब से बड़ा हाथ था। यदि उसे यह विश्वास होता कि समाज उसे अपनी छाया में आश्रय देगा, उसकी चंचल मनोवृत्ति को सुधारकर उसे ऊँचा उठावेगा, तो वह क्यों इस प्रकार मुँह छिपाकर घर से निकल जाती! क्या किसी से पाप हो जाने पर, कोई भूल हो जाने पर उसकी यही दवा है कि उसे बहिष्कृत कर दिया जाय, उसे पद-दलित कर दिया जाय? इससे उसका क्या हित होगा? किंतु हित-अहित की समाज को क्या पड़ी है! वेश्याएँ समाज की कोढ़ हैं; समाज के लिये कलंक हैं, यह चिल्लाने वाले अनेकों हैं, किंतु गंदे समाज को परिष्कृत करने की दुहाई देने वाले कितने ऐसे हैं, जो उन वेश्याओं को अपनी धर्मपत्नी के रूप में ग्रहण कर उन्हें आदर्श गृहस्थ बनावें? नारियाँ भगवान् की सृष्टि की कोमलतम देन हैं। तनिक भी प्रलोभन से वे फिसल जाती हैं। उनकी रक्षा भार पुरुषों पर है, जब ये ही पिशाच बनकर उन्हें निगल जाने को तैयार हों, तो वे कहाँ जायँ! उन्हें पतन के मार्ग पर ढकेलकर समाज खड़ा हँसता है, उन्हें लांछित, अपमानित और प्रताड़ित होते देखकर वह शैतान की तरह अट्टहास

करता है। मनस्ताप की इस ज्वालामयी घड़ी में समाज के लिये उनके मन से अनायास ही एक भयंकर अभिशाप उत्थित हुआ कि एक-से-एक ऊँचे और अच्छे परिवारों की कुलवधुएँ, जो समाज की ऊँची नाकवालों की शरारत से वेश्या जीवन व्यतीत करने पर बाध्य होती हैं, यों ही वेश्या बनी रहकर पुरुषों की पैशाचिकता को पाँवों-तले रौंदती रहे, और पुरुष सब तरह से इनके हाथों बिककर, अपमानित होकर, लुटकर, उठ-उठकर गिरे। तब तक, जब तक इस स्वार्थ-लोलुप, अन्धे, शैतान पुरुष-समाज का आमूल-चूड़ उच्छेदन न हो जाय। यदि कोई उनके आग्नेय नेत्रों की भाषा पढ़ सकता, हृदय में उठने वाले भीषण झंझावत, ज्वालामुखी का विस्फोट और महाप्रलय की सर्वनाशिनी लहर को समझ पाता, तो वह देखता कि वहाँ की धधकती हुई आग को बुझा पाने में आँसुओं की अजस्र वर्षा इस समय असफल सिद्ध हो रही है।

पेड़ों के झुरमिट से रात ने झाँका, छाया और भी सघन हो गई। देखते-देखते समय काला हो गया। नौकर उनके कमरे में लैंप रख गया, पर वह उसी प्रकार अचल बैठे रहे। बाहर पेड़ों की छाया के नीचे जो घनीभूत अन्धेरी व्याप्त हो रही थी, उससे कई गुना बढ़कर जो अभेद्य अन्धकार आज इस समय में उनके मन-प्राण पर सहसा छा गया है, उसके सामने प्रकाश की बड़ी-से-बड़ी ज्योति भी क्षीण पड़ जाती। वह मन-ही-मन सोच रहे थे—क्या इसमें कुन्दन का दोष था? नहीं वह

एक दम निर्दोष है । जो कुछ दोष है, वह मेरा है। उसका जो कुछ दोष है, वह इतना ही कि वह अपने सामने के प्रलोभनों पर, परिस्थितियों पर और अपने हृदय पर विजय न पा सकी। मैंने क्यों विवाह के पहले यह नहीं पता लगा लिया कि बहू भी मुझे पसंद करती है या नहीं! पुरुष अपने को जो सर्वशक्तिमान्, योग्यता और बुद्धि का ठेकेदार समझता है, क्या उसके इसी दंभ ने आज कितनी ही नारियों को, कुंदन की ही भांति, दर-दर की ठोकरें खानेवाली नहीं बना दिया है? उसे तो यह अधिकार है कि वह ब्याह के पहले बहू के विषय में छान-बीन कर ले, किसी भांति उसे चाहे, तो देख भी ले, और जरा-सा भी ऐब होने पर उसे तिलांजलि दे दे। पर स्त्री? वह मोल ली हुई बाँदी की भाँति उसके साथ पिसती रहे। जिसके साथ उसे जन्म भर रहना है, उसके विषय में विवाह के पहले कुछ जान लेने का उसे अधिकार नहीं, एक नजर अपने उस भावी पति को वह देख भी नहीं सकती। अपने हित-अहित के ठेकेदार अपने पिता-माता और सगे-संबंधियों से जो वह सुनले, वही उसके लिये बस है। फिर इसमें कुंदन का क्या दोष है? मैं उसे नहीं पसंद आया, इसमें उसका क्या वश! अपनी चीज सभी चाहते हैं कि सुंदर हो। किसी रूपवान् पुरुष को जिस प्रकार अधिकार है कि वह किसी असुंदर युवती से ब्याह न करे, उसी प्रकार किसी नारी को, जो स्वयं सौंदर्य की अन्तिम सीमा है, क्यों यह

अधिकार नहीं कि वह किसी अनचाहे व्यक्ति से कोई संपर्क न रक्खे ? उससे क्यों जबरदस्ती पातिव्रत का पालन कराया जाता है ! और ये नाते-रिश्ते ? ये क्या हैं ? मनुष्य ने केवल अपने स्नेह को भिन्न धाराओं में बहा देने के लिये, अपने को दूसरे के सामने भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त करने के लिये ही तो इनकी सृष्टि की है । इसका विस्तृत जाल तो सारे विश्व में फैला है । फिर हम क्यों इनके लिये अपने जीवन को संकीर्ण बना डालें ? हम किसी के भाई हैं, पुत्र हैं, पिता हैं, और बहन, बेटी तथा माता हैं, यह तो दुनिया के और अपने मानने पर अवलंबित है। किंतु यदि हम न मानें, तो किसी अदृष्ट के आगे दोषी होंगे, ऐसा क्यों ? कुंदन सुरेश को अपना पुत्र नहीं बना सकी, यह कोई आश्चर्य की बात तो नहीं ।

सहसा उनकी आँखें ऊपर उठ गईं । सामने दीवार पर कुंदन का बड़ा-सा तैल चित्र लटक रहा था । कृष्णशंकर की आँखें उस पर टिक गईं । वह थोड़ी देर अपलक उस चित्र को देखते रहे, मानो यह ढूँढ़ निकालने की चेष्टा में व्यस्त हों कि यह भोला-भोला मुख कभी पाप कही जाने वाली वृत्तियों की कालिमा से धूमिल हो सकेगा या नहीं। अनीति और कलुष प्रवृत्ति की कोई भावना इस शरीर को छू भी सकती है, यह नहीं जान पड़ता । अब वह बैठे न रह सके, उठे, और उस चित्र के पास जाकर खड़े हो गये । उस नीरव रोती हुई

घड़ी में उस प्रतिमा के सामने वह एक बार जोर से रो पड़े। संयम का बाँध टूट गया, करुणा की धारा बह निकली।

सुरेश ने कमरे में प्रवेश किया। चाचा की यह दशा देखकर उसकी आँखें भी सजल हो उठीं। स्नेहशीला चाची के मुख का सहसा उसे ध्यान आया। उसका हृदय भी रो उठा। वह कुछ बोला नहीं, चुपचाप एक कुर्सी पर बैठ गया। इस कमरे की एक-एक वस्तु में उसे कुन्दन का प्यार लिपटा दिखाई पड़ा। सब मानो उसके लिये रो रही थीं। उसे उस दिन की याद आई, जब वह बीमार था, और कुन्दन ने इसी कमरे में लाकर उसे सुलाया था। यही पलँग था, जिस पर चाची का हाथ अपने हाथों में लेकर वह लेटा था। सारी सारी घटनाएँ बायस्कोप के चित्रों की भाँति उसके सामने नाचने लगीं। उसने दबे स्वर में पुकारा—"चाचाजी!"

चाचा की वे आँखें सुरेश की ओर घूमीं, जिनमें से हृदय की आग हिम बनकर पिघल रही थी। सुरेश ने देखा, आँसुओं से कपड़े तर हो गए हैं। और भी देखा, एक पत्र उनके कांपते हाथों में हिल रहा है, मानो सारा रहस्य खोल देने के अपराध की गुरुता के कारण कांप रहा हो और भी देखा, कृष्णशंकर के हृदय में आंधी उठ रही है और भी देखा, जैसे वह पहेली को अभी तक सुलझा नहीं पाए हैं। उससे न रुकते बना, सहसा चाचा के चरणों पर

गिर पड़ा। रुँधे कंठ से बोला—'मुझे जो चाहे दंड दीजिए। इस करुण कहानी का नायक मैं हूँ।"

कृष्णशंकर ने उसे उठाते हुए कहा—"सुरेश, मैं सारी बातें पढ़ चुका हूँ। कुन्दन ने बार-बार तुम्हारी निर्दोषता की सराहना की है। तुम दोनों निर्दोष हो। शैतान मैं हूँ, जो पढ़ा-लिखा और समझदार होने पर भी, भ्रम-वश अपने को पंडित समझकर भी एक स्त्री के हृदय की स्वाभाविक भूख को न संतुष्ट कर सका, प्यास को न बुझा सका। इसका मैं प्रायश्चित करूँगा।"

सुरेश—"चाचा, यह आप क्या कहते हैं! आप……"

कृष्णशंकर ने बात काटकर कहा—"चुप रहो सुरेश, मैं जो कह रहा हूँ। ठीक कह रहा हूँ। नई उमर, जवानी सुख चाहती है, विनोद चाहती है, अल्हड़पन, मस्ती चाहती है, किसी मनचाहे के साथ स्वर्ग के खेल खेलना चाहती है। मैंने उसके सुख को अपने वैभव से, आराम को परिश्रम से, विनोद को पांडित्य-पूर्ण तर्कों से और अल्हड़पन, मस्ती को गंभीरता मे दबा देना चाहा था। यह नहीं जानता था कि जवानी को विद्वत्ता से कोई मतलब नहीं। पांडित्य के तर्क-वितर्कों से उसे प्रेम नहीं, गंभीरता से उसे राग नहीं। अब समझ रहा हूँ कि जवानी के समय दिनों में यौवन के मदमाते को गंभीरता और पांडित्य के चक्कर में घसीटने का, यह परिणाम होता है। जवानी की देन खुलकर खेलने के लिये

है, चाहे विश्व रहे, चाहे जाय; इससे उसे कोई मतलब नहीं।"

वह सहसा चुप हो गए। यह उन्माद के लक्षण थे। सुरेश स्तब्ध, एकटक उनकी ओर देखता रहा। थोड़ी देर बाद वह फिर बोल उठे—"सुरेश, चाहे वह कहीं भी हो, मैं उसे खोज निकालूँगा। उससे अपनी और समाज की भूलों के लिये क्षमा मागूँगा। जिस समाज के कुरूप, असुंदर, पिशाच-जैसे व्यक्ति सुन्दरियों से ब्याह का दम भरते हों, जो समाज विधवाओं के हाहाकार पर हँस उठता हो, उस समाज की एक युवती को पतिव्रत का उपदेश देना, एक पति-भक्ति का सिद्धांत सुनाना कितना बड़ा अपराध है, यह कठोर सत्य आज जान पाया हूँ।"

रात को, जब सारा विश्व सो रहा था, कृष्णशंकर बाहर निकले। अपराधी की भांति सुरेश पीछे-पीछे था। जब वह चलने लगे, तब उसने चरण छुए। उन्होंने अनुभव किया, दो बूँद तप्त आँसू उनके पैरों पर ढुलक पड़े हैं। सुरेश के सिर पर हाथ रखकर बोले—"बेटा, रोओ मत। भैया नहीं हैं, उनके स्थान पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम फूलो-फलो। युग युग जिओ। संभव है, यह अन्तिम भेंट हो।"

वह चले गए। सुरेश चुपचाप अपने कमरे में चला आया। उसने खिड़की खोल ली, और खड़ा हो गया। गंभीर रात्रि के सन्नाटे में वायु ने दूर से आती हुई कृष्णशंकर की करुण

रागिनी उसके कानों तक पहुँचा दी। वह न सुन सका खिड़की बन्द कर, बिस्तर पर आकर लेट गया और सोचने लगा—मैं भी क्या जली किस्मत लेकर दुनिया में आया हूँ। किसी को मेरे द्वारा सुख न मिल सका, सब किसी न किसी रूप में मेरे कारण दुखी ही हुए।

(१३)

मालती को खोकर मोहन उदास रहने लगा। एक दिन जिस सत्य को, सब नियम, बंधन, आचार-विचार दूर ठेलकर, उसने परमात्मा को साक्षी बनाकर हृदय में उतार लिया था, वही पल-मात्र में देखते-देखते झूठा प्रमाणित हो गया। और, वह देखता ही रहा, उसका कुछ बस न चला। निमेष-मात्र में उसका बनाया हुआ कल्पना का मंदिर किसी निर्दय आघात से गिरा दिया गया, और किसी निष्ठुर करों ने उसकी प्रतिमा भी उससे छीन ली। उसे पूजा का अधिकार भी न रह गया। पुजारी ने अपने आवहन से देवी को अभी पूरी तरह प्रसन्न भी न किया था, देवी अभी तक उसके लिये अप्राप्य, दुरूह और अलभ्य थीं, उसी समय उसके किसी अज्ञात पाप की दुरभिसंधि के परिणाम-स्वरूप देवी सदा के लिये उससे रूठकर चली गईं। यदि वह जान पाता कि उसकी आँखें किसी दिन यों उँगली डालकर खोल दी जायँगी, तो वह जान-बूझकर यह मोह का फंदा शायद अपने गले में न डालता। जिसके लिये उसने इतने दिनों तक अनवरत

साधना की, कितनी ही रातें तारे गिन-गिनकर काट दीं, और आँखों-आँखों में ही सबेरा किया, जिसके एक प्रेम-भरे वाक्य के लिये वह अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे सकता था, उसे आज एक पल देख लेना भी उसके लिये अपराध बन गया। उसकी अतुलनीय संपत्ति को आज दूसरे ने अपनी तिजोरी में बंद कर लिया है। महाजन जिस प्रकार तिजोरी में धरे हुए अपने धन की रक्षा करता है, पति उसी भांति अपनी ब्याहता पत्नी की रक्षा करता है। यह इसी भारतवर्ष का ही तो प्राचीन आदर्श है कि बहू-बेटियों को सूर्य की रोशनी भी नहीं लगनी चाहिए फिर ऐसी दशा में मोहन के लिये मालती को एक पल के लिये भी देख पाना असम्भव नहीं, तो क्या है? मोहन पुरुष था, और उससे भी बढ़कर मानव, अतः किसी भी दशा में देवता बनने की कल्पना वह नहीं करता था। मालती को मूर्तिमान् अपने समक्ष न पाकर वह उसके चित्र की उपासना करने लगा। एक दिन सहसा उसके छोटे कमरे के एक कोने में रक्खी हुई मेज पर एक छोटा-सा पासपोर्ट बाइंडिंग का चित्र दिखाई पड़ा। दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते उसके मुख पर एक विचित्र श्मशान-सी गंभीरता और शांति व्याप्त रहने लगी। चुपचाप अपने कमरे की चहारदीवारी के अंदर बंद वह न-जाने क्या-क्या सोचने लगा।

ग़लत राह पर चलती हुई अपनी संतान रोकने के लिये माता-पिता के पास एक अमोघ अस्त्र होता है। और, वह है

विवाह। मोहन भी तो गलत राह पर जा रहा था। जो दुनिया नहीं चाहती, वही यदि वह देखती है, तो सीधे-सादे शब्दों में कह देती है कि यह नहीं होना चाहिए। फिर यदि कोई अनब्याहा युवक सदा चुपचाप रहे, खाते-खाते सहसा हाथ रोक बैठे, रात को नीरव शांति में भी जागता रहे, तो उसके माता-पिता यह क्यों न समझ लें कि इसे कुछ अभाव है। और वह विवाह को ही इस अभाव की पूर्ति समझते हैं। और, यही हुआ। एक छोटे-से नगर के एक छोटे-से परिवार की एक युवती से उसका सौदा तय हुआ। माता-पिता ने मोहन को उसका चित्र दिखलाया और उसने पसंद कर लिया। युवती सुन्दरी है। गुप-चुप तौर पर यह भी सुन लिया कि यथेष्ट पढ़ी-लिखी है, गाना-बजाना जानती है, कसीदे काढ़ना जानती है, घर के सब कार्य जानती है, और सबसे बढ़कर यह सुना कि वह कविता भी करती है। इससे अधिक उसे क्या चाहिए था। इससे अधिक की वह आशा ही कैसे कर सकता था? वह स्वयं कोई बड़ा विद्वान् नहीं, जो एम० ए०-बी० ए० बालिका की तलाश करता। उसके लिये तो इतने ही गुण बहुत थे। वह यही चाहता था कि उसकी पत्नी केवल उसे समझे, उसे पहचाने, और उसे मानसिक शान्ति दे सके। शारीरिक संबंधों की उसे इतनी चिन्ता न थी, यह विषय उसके लिये गौण था। उसे तो सहचर्य चाहिए, बस, केवल मानसिक तृप्ति, जिसमें वह अपने अतीत को डुबा दे। समय

पर जो उसके श्रांत-क्लांत मन को कल्पना के सुखद लोक में ले जा सके, जो उसकी कमजोरियाँ हँसकर सहन करे और जो उसकी पत्नी ही नहीं, मित्र भी हो, वह ऐसी पत्नी का स्वप्न देखने लगा और, एक दिन वह भी आया, जब उसकी यह स्वप्न माला सत्य होने जा रही थी। लग्न-मण्डप में बैठे-बैठे वह सब कृत्य कर रहा था, किंतु उसका मन वहाँ न था। वह तो जैसे स्वर्ग के देवतों क साथ फिर रहा था। विवाह के सब कार्य समाप्त हुए। यद्यपि देना-लेना कम ही हुआ, किंतु वह संतुष्ट था। क्या विवाह में व्यय की हुई समस्त संपत्ति अथवा कुबेर का भांडार भी उसकी अतुलनीय निधि के सामने हेय न था? यद्यपि इन सारे कामों के बीच-बीच में अपार जनरव के ऊपर खड़ी कोई मूर्ति मोहन को दिखाई पड़ जाती थी, भविष्य के इन सब स्वप्नों के जाल में अतीत की कोई याद भी रह रहकर उसे कसक दे देती थी, किंतु वह बरबस उस स्मृति को दूर ठेल देता था। उसका भविष्य-सुख-मग्न मन पुकार उठता— मालती! वह मेरी कोई नहीं! जीवन की अनजान घड़ियों में एक भूल कर बैठा था, यही उसका 'प्रायश्चित है। वह यदि मेरी होती, तो मेरे साथ बनी रहती। जब उसे मेरी चिंता नहीं, और वह मुझे छोड़कर चली गई, तो मैं उसके इस निर्दयता-पूर्ण व्यवहार के लिए अपना यह जीवन रोते-रोते व्यतीत कर दूँ, यह मुझसे न होगा। इस एकांत-प्रेम में मेरा विश्वास नहीं। मंदिर सूना नहीं रह सकता, यदि एक प्रतिमा नष्ट

हो गई, तो उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा प्रतिष्ठित होग

किन्तु यह उसकी भूल थी, यह अधिक दिनों तक अज्ञात न रह सका। विवाह के लगभग दो महीने तक, जब प्रत्येक युवक आँखें बन्द रहती हैं, उसका जीवन काल्पनिक आनन्द के झूले पर झूला, उसके बाद नवागता पत्नी सावित्री ने अपने पैर फैलाने शुरू किए। वह नाटी-सी, मोटी-सी युवती थी, जो अब उसके लिये भार बनने लगी। उसके पास सौन्दर्य था, किन्तु उसके मन की कलुषता से जैसे वह मोहन की दृष्टि में धूमिल हो उठा। एक सीधा-सादा पत्र पढ़ने के लिये उसे घण्टों का समय चाहिए। मोटी-सी भद्दी, पुरुषोचित आवाज, जो कानों को कटु प्रतीत होती थी। कविता करना तो दूर, एक सीधे शब्दों में कहा गया वाक्य शायद तीन बार में समझ में आवे यह सब भी मोहन सह लेता, किन्तु सबसे बढ़कर उसका कर्कश स्वभाव था, जो मोहन को शान्ति देने की अपेक्षा अशान्ति के महासागर में ढकेल देता। अपने से बड़ों के सामने निर्लज्ज भाव से, सिर खुले घूमते रहना, ज़ोर से बोलते रहना, ज़रा-सा भी कष्ट होने पर पहाड़ सिर पर उठा लेना उसके व्यापार थे मोहन की माता उसे फूटी आँखों भी न भाती थी मोहन के पिता को वह एक दिन स्पष्ट शब्दों में नालायक पुकार चुकी थी और मोहन को भी पतित, नीच, चोर और जाने क्या-क्या समझती थी। मोहन स्तब्ध, उसे

कोई राह ही नहीं सूझती थी। नारी का यह एक बिलकुल नया रूप उसके सामने आया था। इस रूप को देखकर वह पुरुष होते हुए भी लज्जा से लाल हो उठा। उसने कितनी ही बार समझाने की चेष्टा की, ऊँच-नीच बताया, किन्तु सावित्री जैसे शिक्षाओं, आदेशों और उपदेशों के लिये ढाल थी। उसका यह विचार था कि वह सर्व-गुण सम्पन्ना है, लोग नाहक उसे सताते हैं। एक वह सावित्री थी जो अपने पति को यमराज के हाथों से भी निकाल लाई थी, एक यह सावित्री थी, जो जीवित ही मोहन के लिये नरक का द्वार खोले खड़ी थी। मोहन ने जब देख लिया कि उसके लिये यह बन्धन व्यर्थ प्रमाणित हुआ, तो उसने सम्बन्ध त्याग दिए। अब न वह सावित्री से बोलता न किसी कार्य के लिये कहता। अब वह एक विवाहित कुमार था। उसकी सारी आशाएँ धूल में मिल गईं, अभिलाषाएँ भस्म हो गईं और उनकी खाक पर खड़े होकर वह अपने भविष्य पर विचार करने लगा। धीरे-धीरे वह समय भी अपने आप आ गया, जब सावित्री स्वयं उससे भी अलग रहने लगी। केवल मोहन के कमरे में सो लेने-भर का उससे मोहन का नाता रह गया, आहार-विहार सब वह अलग करने लगी। किन्तु, सब कुछ हो जाने पर भी अपना सुनहला जीवन मिट्टी हो जाने पर भी, मोहन ने ज़बान न हिलाई, क्योंकि वह आरम्भ से ही कष्ट-सहिष्णु था। एक दिन सावित्री का एक गहना उसी की अपनी भूल से कहीं खो

गया। उस पर उसने मोहन से स्पष्ट कह दिया, केवल उससे ही नहीं, प्रत्युत मुहल्ले-भर में अपनी बातों से यह प्रकट कर दिया कि मोहन उस गहने को ले जाकर अपनी किसी प्रेमिका को भेंट दे आए हैं। इस पर भी वह चुप रह गया, मौन न त्यागा। केवल यही सोचा—और वह 'चरित्र-हीन' की 'किरणमयी' कैसी थी, जिसने हँसते-हँसते स्वामी के लिए अपने सब गहने उतारकर अनंग डॉक्टर को दे दिए थे—ऐसे स्वामी के लिये, जिसे उसने एक निमेष के लिये भी प्यार न किया। और, एक यह सावित्री है, जो बात-बात में कहती है कि मेरे सिवा उसका कोई नहीं, और फिर भी यह झूठा लांछन! शायद चरित्र-हीनों का हृदय अधिक उदार, महत् और निष्कलुष होता है।

ऐसी ही एक संध्या थी। मोहन अभी ऑफिस से आकर कपड़े उतार ही रहा था कि सावित्री कमरे में घुस आई, और आते ही बोली—'क्यों जी, जब तुम्हें मेरा मुँह देखना पसंद नहीं, तो क्यों नहीं मुझे अलग कर देते? किंतु याद रखना, मैं ऐसे हटनेवाली नहीं हूँ। मैं अदालत जाऊँगी। तुमसे आधा हिस्सा लूंगी। तुम एक कागज पर लिखो, और दस्तखत करो कि म्हारा मुझसे कोई सबंध नहीं।"

मोहन शांत भाव से कपड़े उतार कर कुर्सी पर बैठा गया, और बोला—'हाँ, मेरे पास जो करोड़ों की संपत्ति है, उसमें से तुम जरूर आधा ले सकती हो। रह गई कागज पर लिखने

की बात, सो वह मैं नहीं कर सकता, मुझमें अभी सम्मान का थोड़ा अंश बाकी है।"

मोहन के पास था ही क्या जो सावित्री आधा बँटाती। हारकर बोली—'तो तुम मेरे लिए क्या करते हो? क्यों मेरे साथ नहीं रहते? मुझे प्यार क्यों नहीं करते?"

"इसलिये कि मैं तुम्हें प्यार नहीं कर सकता। इस जन्म में नहीं, शायद अगले जन्मों में भी नहीं। तुम्हारे लिए कुछ करता नहीं, यह सत्य है, और वह इसलिए कि नहीं कर पाता। नहीं इसलिये कर पाता कि अभी मेरे पास रुपये नही हैं। कभी होंगे, तो सब कुछ कर दूंगा, किन्तु वह केवल कर्तव्य होगा, प्रेम के नाते नहीं।"

जिसे ब्याहकर लाए हो, आग, पानी और हवा को साक्षी बनाकर लाए हो, उसे 'प्यार नहीं कर सकता' कहकर नहीं छोड़ सकते। तुम्हें कुछ लाज-शरम भी है या नहीं?"

"लाज-शरम तुमसे कुछ ज्यादा ही है सावित्री, किन्तु शायद तुम यह नहीं जानतीं कि आग भी कभी बुझ जाती है, पानी भी सूख जाता है, और हवा भी बंद हो जाती है। मेरे लिये अब ये साक्षियां किसी काम की नहीं रहीं। अगर विवाह के पहले यह जान पाता कि तुम मेरे लिए एक बेड़ी बन बैठोगी, तो शायद इन तीनों गवाहों को गवाही के लिए कष्ट न देता।"

"तुम कैसे आदमी हो जी, यह समझ नहीं पाती। मा-बाप ने मुझे कुंए में डाल दिया। उनका तो बोझ हलका हुआ,

इधर मेरे ऊपर बोझ बढ़ गया। तुम क्या मुझे मारकर ही दम लोगे?"

"दुनिया ही जब मुझे न समझ सकी, तो तुम कैसे समझोगी? मैं स्वयं भी तो अपने को न समझ सका। कुएँ में डालने के लिये मैं तुम्हारे घर वालों से शिफारिश करने नहीं गया था। जहाँ तक मेरा ख़याल है, वह स्वयं दौड़े आए थे। जिस तरह तुम्हारे जीवित रहने में मेरी कोई हानि नहीं, उसी तरह तुम्हें मार डालने से कोई लाभ भी नहीं।"

मोहन को मालूम हुआ कि उसका उत्तर कुछ कठोर हो गया है, अतः वह ठहरकर बोला—"जाने दो, सावित्री, तुम्हारा रास्ता अलग है, मेरा अलग। तुम्हारे ऊपर यदि कोई कष्ट पड़े और कोई सहायता करने वाला न हो, तो मेरे पास आओ। मैं अपनी सामर्थ्य-भर सहायता कर दूँगा, अगर न हो सका, तो कह दूँगा कि नहीं हो सकता। कोई विशेष ज़िम्मेदारी तुम्हारे प्रति मैं अपनी नहीं समझता। दुनिया समझती रहे, तुम समझती रहो।"

किंतु वह तो जैसे लड़ने को ही तैयार थी, बोली—"मैं सब समझती हूँ। मन-ही-मन तो इस टेबुल पर रक्खे हुए चित्रों की पूजा होती, मैं कौन हूं?"

मोहन को अब अधिक सह्य न था। बात-ही-बात में सावित्री ने उसके मर्म पर आघात कर दिया था। यह चोट ऐसी जगह लगी कि वह तिलमिला गया। उसने मेज़ पर से

मालती का चित्र उठाकर जोर से छाती से चिपका लिया, और कमरे से बाहर निकल गया। बाहर बैठक में जाकर उसके आँसू बह निकले। यही वह युवती थी जिसके साथ उस जैसे भावुक युवक को जीवन निर्वाह करना था! यह उसकी पत्नी थी! शांति की खोज में उसका मन किस अशांति के महासागर में जा पड़ा है। हे भगवान्! बिलकुल मौन रहने पर, निर्लिप्त बने रहने पर जब उसका यह गुप्त मानसिक युद्ध साबित्री के साथ चलता रहता है, वह बात-बात के काटने दौड़ती है, तब यदि वह भी असहिष्णु होकर बात-बात का जवाब देता चलता, डाँटता चलता, तब तो शायद वह महा-भारत मचता, जिसके आगे शताब्दियों-पीछे का महाभारत भी शर्म से मस्तक नीचा कर लेता! सारी हत्याएँ इस मौन अहिंसात्मक युद्ध के आगे नगण्य हो उठतीं!

एक बार सावित्री बड़े कष्ट में पड़ी। उसके शरीर-भर में फुंसियां निकल आईं। बरसात के दिन थे, अतः वे स्वभावतः बढ़ती ही गईं। उस पर सावित्री की गंदगी-प्रियता ने उन्हें और भी भयंकर बना दिया। उसकी सफाई का आदर्श केवल अपने कमरे में झाड़ू लगा देने, शरीर पर धुले वस्त्र धारण कर लेने, स्नान में अच्छे-से-अच्छा साबुन और तेल इस्तेमाल कर लेने तक ही सीमित था। यह तो ठीक वैसा ही था, जैसे एक श्वान जहाँ बैठता है, पूँछ से उस स्थान को झाड़ लेता है। यदि इससे वह कुत्ता सफाई के ज्ञान का

आश्चर्य समझ लिया जाय तो सावित्री भी इस विषय में पण्डित थी। हाँ, तो सावित्री उन फुंसियों के कारण बड़ी विपत्ति में पड़ी। मोहन ने जब इनकी शुरुआत देखी, तभी एक दवा बतलाई। किन्तु सावित्री ने एक—दो दिन उसका प्रयोग कर छोड़ दिया। वह चाहती थी, उसके तनिक भी व्यथित होने पर बड़े-बड़े डॉक्टर बुलाए जायँ, सब लोग सेवा के लिए उसके पास हाथ बाँधे खड़े रहें, बात-बात पर उसका मुँह जोहा जाय। पर वह सब करता कौन? सास-ससुर को तो उसने पहले ही बेगाना बना लिया था, पति को पति की उसने कभी चिन्ता ही नहीं की। यदि चिन्ता करती तो कोई कारण न था कि मोहन उसके पीछे-पीछे न फिरता। दूसरे को अपना बनाने के पहले खुद उसका बनना पड़ता है। फिर यदि उसकी कोई दवा न होती, वह यों ही लाचार, बेकस पड़ी होती, तो शायद मोहन अपने कर्तव्य का ही ध्यान कर उसके लिए सब प्रबन्ध करता। किन्तु वह देख रहा था कि घर के अन्य प्राणी उसे खाना खिलाते हैं, उसकी दवा करते हैं, उसकी सेवा भी करते हैं। और वह उनको लेकर सुखी है। इस दशा में उसने अपना बोलना उचित न समझा। वह स्पष्ट देखता था कि सावित्री पड़ी, आवश्यकता से अधिक और नारी-सुलभ लज्जा के विपरीत, चीख रही है, किन्तु वह चुप रहता था। उसे यह कल्पना भी न होती थी कि एक महिला, भीषण विपत्तियों में भी अपना कण्ठ इतना कठोर कर सकती है।

उसके सामने एक-दो नहीं, अनेकों उदाहरण थे, जहां महिलाओं ने प्राण दे दिए हैं, किन्तु उनके कष्ट, यातना और पीड़ा की बात कोई न जान सका। उसकी आंखें ही किसी की व्यथा समझ लेने को काफी थीं, सहानुभूति के झूठे शब्दों में उसका विश्वास नहीं था। फिर, जिसे एक दिन भी अपना न माना, जिसे प्यार नहीं किया, जिससे कोई नाता ही नहीं रहा, उसकी वह चिंता ही कैसे करे! दुनिया में इतने तो पीड़ित हैं, एक-से-एक भयंकर यातनाएं सह रहे हैं, कितने प्रतिपल प्राण त्याग रहे हैं, वह किस-किसकी चिंता करता है, किस-किसकी सेवा करता है! सावित्री से उसका एक मकान में रहने वाले दो किराएदारों से अधिक क्या नाता था?

एक दिन इसी बात पर सावित्री युद्धोन्मुख हो गई। रात को लगभग ग्यारह बजे, जब मोहन मेज के सामने बैठा अपने को समझने की चेष्टा कर रहा था, वह सहसा गरज उठी। मोहन के मस्तिष्क में जैसे भूकंप आ गया। सारे विचार उलट-पुलट गए। एक यह भी अजीब बात थ कि जिस समय मोहन शांति की खोज में रात्रि की नीरवता में मूक हो बैठता, सावित्री उसी समय, उसी घड़ी उसे अशांति के महासागर में गोते देने लगती। सावित्री बरस पड़ी—"मैं पूछती हूँ, तुम्हारे दिल में दया-वया है या नहीं, या पत्थर हो? मैं पड़ी-पड़ी रोया करती हूँ, और तुम लिखते रहते हो। तुम मेरे पास क्यों नहीं बैठते? आदमी को इतना कठ-करेज

न होना चाहिए। शादी के पहले यह क्यों नहीं सोचा कि जो ब्याहकर आवेगी, वह खायगी भी, पहनेगी भी। तुमने अब तक मुझे कै पैसे दिए हैं ? सोच लिया, जहाँ खाती-पीती है, वहीं दवा भी कर रहे हैं। चलो, छुट्टी हुई। मैं नहीं जानती, जैसे हो, जाकर कोई दूसरा डॉक्टर बुलाओ।"

मोहन समझ गया, अब प्रलय का समय आ गया। फिर भी उसने अपनी सहज गंभीरता नहीं छोड़ी। शांत-संयत स्वर में बोला—"दया-मया नहीं है, यह कहकर आदमी नहीं बच सकता। दया-मया है, लेकिन वह अपनों के लिये सुरक्षित है। इन विभूतियों को यों ही व्यर्थ नष्ट कर देना अच्छा न होगा। तुम्हारे ही मुहल्ले में न-जाने कितने बीमार पड़ते थे, कितने मृत्यु से भी बढ़कर कष्ट उठाते थे, मेरा ख़याल है कि तुम सबके पीछे न चिंतित होती रही होगी। मनुष्य अभी इतना पर-दुःख-कातर नहीं बन सका है। खैर, तुमने स्वयं लोगों की विपत्ति में मेरी सेवाएँ देखी हैं। रात-रात भर जागकर, पागलों की भाँति दौड़-धूपकर, खाने-पीने की चिंता छोड़कर मैंने उन्हें सुख पहुँचाया है। किंतु वे ऐसे लोग थे, जिन्हें ग़लती या सही, मैं सदा से अपना समझता आया हूँ, जो बड़े होने के कारण मेरे पूज्य हैं, अथवा छोटे होने के कारण मेरे प्राणों से अधिक प्रिय। मैं अपना गुण-गान नहीं कर रहा, किंतु अपने को व्यक्त करना चाहता हूँ। शादी के पहले यह अवश्य सोचा था, कोई होगी, जो खायगी और पहनेगी, किंतु यह

भी सोचा था कि वह आदमी होगी, स्त्री होगी। यह न सोचा था कि तुम मिलोगी, जिसके लिये नए विशेषण गढ़ने होंगे; शब्द-कोष में तो तुम्हारी-जैसी रमणियों के लिये शब्द हैं नहीं।"

सावित्री पल-भर रुककर 'शब्द-कोष' का अर्थ सोचने लगी। मोहन ने उसे बोलने का अवसर न देने की ग़रज से कहा—"सावित्री, तुमसे छुट्टी नहीं पाना चाहता। जिस ढोल को जान बूझकर गले में बाँधा है, उसे तो बजाना ही पड़ेगा। अपने तथा तुम्हारे, दोनों जीवनों को नरक में परिणत कर देने का सारा श्रेय मुझे है। तुम्हें दोष नहीं दे सकता। इस दोष का प्रायश्चित करूँगा। अभी लाचार हूँ। मेरे पास पैसे नहीं हैं। मेरी तनख्वाह से मेरा पहले का कर्ज़ चुकाया जा रहा है। जब वह चुक जायगा, और मुझे पूरी तनख्वाह मिलने लगेगी, उस समय जो कुछ मुझसे हो सकेगा, नियमित रूप से तुम्हें देता जाऊँगा। उसके बल पर तुम जैसे चाहो, जहाँ चाहो, रहो, और सुखी रहो। यदि तुम्हें एक पुरुष के बिना दुःख हो, और मैं जानता हूँ कि होगा, तो समझ लेना कि तुम्हारा विवाह ही नहीं हुआ। यदि मैं पुरुष होकर अपने मन तथा शरीर, दोनों को पीस-पीसकर, दबा-दबा कर नष्ट कर सकता हूँ, तो स्त्री तो सहनशीलता की प्रतिमा है। तुम चाहोगी, तो सरलता से दुःख का यह पहाड़ उठा लोगी। मेरी तुमसे केवल यही प्रार्थना है कि बोल-बोलकर, छेड़-छेड़कर मेरी जिन्दगी

और भी कष्टमय न बनाओ। जो है, वही बहुत है। मुझसे कोई संबध न रक्खो। मुझे मर गया समझ लो।"

सावित्री 'मर गया समझ लो' से त्रस्त हो उठी। उसके सामने वैधव्य का काला रूप खिंच गया। बोली—"यह तुम क्या कहते हो? तब मेरा कौन होगा?"

मोहन—"नाटक होता है। एक राजा होता है, एक रानी। रानी कहती है—'राजा, तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं। मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ। तुम मुझे लातों से ठुकराओगे, तब भी मैं तुम्हारी ही बनी रहूँगी।' किंतु सावित्री, वह नाटक सत्य नहीं होता। हम-तुम एक नाटक खेल रहे हैं, यही समझ लो। समझ लो, तुम्हारा राजा, तुम्हारा पति पागल हो गया। उसका मस्तिष्क फिर गया। अब वह ठीक राह पर न आ सकेगा। किंतु कृपा कर 'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी पत्नी हूँ,' यह कहकर मेरा उपहास न करो, मुझे दुखी न करो। और यदि मुझे दुखी करने में ही तुम्हें सुख है, तुम्हारे नारीत्व की, पत्नीत्व की सार्थकता है, तो कह दो, कहीं चला जाऊँ।"

उस रात बात यहीं समाप्त हो गई, क्योंकि मोहन सहसा मौन हो गया। अपनी अन्तर्मुखी ज्वाला को पल-भर विस्मृत करने का उसके पास यही एक अवलम्ब था। मौनता की छाया में जाकर जैसे उसकी संपूर्ण वृत्तियाँ शीतल हो जाती थी। वह सोचने लगा—यह तो मेरे साथ आई है। दुनिया ने इसे संपूर्ण रूप से मेरी बनाया है। स्त्रियों की स्वाधीनता और

सम्मान-रक्षा का यह तो अर्थ नहीं कि दांपत्य जीवन साक्षात् नरक हो उठे। इसने मेरे साथ विद्रोह किया। जब मैं अपने माता-पिता के साथ हूँ, तो इसका अलग हो जाना क्या मेरा स्पष्ट अपमान नहीं? एक हिंदू स्त्री, हिंदू पत्नी तो अपने पति के साथ मरने और जीने का स्वप्न देखती है! इसने मेरे पिता के शब्दों की स्पष्ट उपेक्षा की, उनका और मेरा मरना मनाया, स्वयं मेरी इच्छाओं और आदेशों को ठुकराया, मुझसे ही अलग रहने लगी, फिर भी यह चाहती है और दुनिया चाहती है कि मैं इसके साथ रहूँ। यह मुझसे न होगा। क्षमा करना देवतों का गुण है, आदमी तो जैसे-का-तैसा ही जानता है और यही उसकी शोभा है, गुण है। मैं आदमी होकर देवता होने की कल्पना नहीं कर सकता। सावित्री, तुम मेरी हो, तो रहो, किंतु मैं तुम्हारा नहीं हो सकता। इसके लिये विवश हूँ। मैं पागल हो जाऊँगा, मर जाऊँगा, तब भी नहीं!

और, वह पालल हो भी गया। उसने गम गलत करने के लिये अधिकाधिक शराब पीनी शुरू की, जिसने उसे थोड़े समय में ही दुर्बल, कृश-तन और अनाकर्षक बना दिया और यों, सब कुछ खोकर, प्यार पाने का अन्तिम अवलंब भी लुटाकर वह भरी जवानी में ही विरागी हो गया।

कुन्दन के चले जाने से रेणु की दशा बड़ी विचित्र हो गई। अब वह सुरेश के घर न जाती थी। वह सब हाल उसके मुँह से जान चुकी थी। जब उसे मालूम हुआ कि सुरेश का सारा परिवार हमारे प्रेम-सम्बन्ध को जान गया है, उसी दिन से वह और भी संकुचित रहने लगी। शर्म से उसकी आँखें न उठतीं। वह सोचती—अब क्या करूँ? जिस रहस्य को जन्म-भर छिपाकर रखना चाहा था, वही खुलकर सामने आ गया। जिस भेद को भेद ही रहने देने के लिये मैंने सतत प्रयत्न किया था, वही आज सब लोग जान गए। अब मुझे समाज क्या कहेगा और दुनियाँ क्या कहेगी? मेरे लिये अब इसके सिवा और कौन उपाय है कि चुपचाप प्राण दूँ? कम-से-कम लांछित, अपमानित और संसार का भार बनने से तो बचूंगी। लोग हँसेंगे, जिस राह जाऊँगी, लोग ताने मारेंगे। जीना दूभर हो जायगा। हाय अभागिनी हिन्दू नारी! तेरे लिये प्रेम करना पाप है! इस के लिये तुझे प्रायश्चित्त करना होता है। घुल-घुलकर मरना होता है। तेरे इस स्वर्गीय अधिकार को छीन-

कर समाज तुझे वह वस्तु देना चाहता है, जिसे 'पति' कहते हैं। वह पति यदि तेरे मन का हो, तेरे विचारों, आदर्शों और हृदय की गुप्त कामनाओं, लालसाओं तथा इच्छाओं के अनुकूल हो, तब भी कोई बात है। पर वह तो जबरदस्ती तेरी आशा-अभिलाषाओं को कुचलकर, हृदय को मसलकर, भार बनाकर तेरे ऊपर लाद दिया जाता है। तू पतिवाली कहाती है, पत्नी का पद पाती है, गृहिणी-शब्द के गुरुत्व से दबाई जाती है। पर इस 'पति' शब्द के पीछे कितनी यंत्रणा, 'पत्नी'-शब्द के पीछे कितनी मार्मिक व्यथा, 'गृहिणी' के पीछे कितना व्यंग भरा पड़ा है! तू अपमानित की जाती है, सताई जाती है, प्रताड़ित की जाती है। तुझे बाध्य किया जाता है कि इस पति-नामधारी जन्तु पर अपना सर्वस्व वारे उसके चरणों पर अपनी समस्त सुख की दुनियाँ को भस्मीभूत करके दिन-रात पड़ी रहे। तू उफ़ भी नहीं कर सकती, रो भी नहीं सकती। किसी से अपना दुखड़ा रोना तेरे लिये भयंकर पाप है।। चुपचाप अपनी आशाओं की उजड़ी दुनियाँ में, कामनाओं की होली में जलती रहे। अपमान के घूँट पीकर भी हँसती रह, प्रताड़ित होकर भी पति के ही चरणों की पूजा करती रहे। तेरे लिये यही विधान है, यही नियम है, यही व्रत है। यही सच्ची पूजा, सच्ची आराधना, सच्चा कर्म है। इसी से तुझे मुक्ति मिल सकती है।

उसे सहसा बंगाली कवि चंडीदास की कथा याद आई। वह

सोचने लगी—धर्म के नियामक, समाज के गुरु, ब्राह्मण होकर भी चंडीदास उनसे प्रेम करते थे, जो समाज के शब्दों में अछूत, अस्पृश शूद्र, नीच और पतित कहे जाते हैं। 'रामी' तो एक धोबिन की बालिका थी न। उसे क्या अधिकार था कि वह किसी से प्रेम करे। किंतु नहीं, चंडीदास ने उसे, केवल उसे ही क्या, सारी दुनियाँ को, यह दिखा दिया कि प्रेम के आगे, सच्चे आदर्श प्रेम के आगे छूत-अछूत, स्पृश-अस्पृश, धर्म, नियम, समाज और बन्धन सब नगण्य हैं। वह मुक्ति है, निर्विकार है, पवित्र है और महत् है। प्रेम का सौदा पवित्र हृदय से खुले आम होता है। कोई भी नियम और बन्धन, कोई भी अत्याचार और अनीति उसे रोक नहीं सकता। उन्होंने बतला दिया कि सब धर्मों से बड़ा धर्म मनुष्यता है, सब नियमों से बड़ा नियम, बन्धनों से बड़ा बन्धन, कर्मों से बड़ा कर्म प्रेम है। यदि वह ब्राह्मण-कुमार होकर भी एक अछूत युवती के पीछे, उसके सच्चे प्रेम के लिये, समस्त झूठे धर्म, थोथे सिद्धान्त और मिथ्या रूढ़ियों को तिलांजलि दे सकते थे, जाति-पाँति की जंजीर तोड सकते थे, तो क्या मैं एक ब्राह्मण बालिका होकर, उन्हीं के पथ पर चलकर संसार के सामने प्रेम का आदर्श उदाहरण नहीं रख सकती? अवश्य। और रामी! प्रेम की प्रतिमा रामी! तुमने बहन, एक अदम्य साहस और अतुलनीय प्रेम का उदाहरण संसार के सामने रक्खा है। कहाँ से तुममें इतना नैतिक बल आया, बहन, जो जमींदार के पतित प्रलोभनों को

तुमने प्रेम के आगे ठुकरा दिया! तुमने घर छोड़ दिया, पर अपने प्रेम की लाज रक्खी। अपने को अमर कर दिया। क्या मैं तुम्हारे पथ पर चल सकूँगी? मैं इतना आत्मविश्वास, इतना साहस, इतना नैतिक बल कहाँ से पाऊँगी? नहीं नहीं, रामी बहन, मैं तुम्हारे पथ पर चलूँगी। विश्व का कोई बन्धन मुझे बाँध सकेगा। संसार की शक्तियाँ मेरे प्रेम की शक्ति के आगे नत-मस्तक हो जायँगी। मैं दिखा दूँगी कि प्रेम के लिये कैसे मारा जाता है। मेरी अच्छी, भोली माँ, मुझे क्षमा करो। तुम्हारे मन से विवाह करके मैं सुखी न हो सकूँगी। मुझे अपने पथ पर जाने दो।

आज वह विक्षिप्त-सी हो गई। वह कल ही चंडीदास' फिल्म देखकर आई थी। इतने दिनों से जो तूफान, आँधी का जो वेग हृदय में उमड़ रहा था, आज इस तन्मयता की वेला में स्वतः बाहर हो उठा। वह आपे में न थी। घर-भर में घूमकर चंडीदास का वही गान-गुनगुनाने लगी, जिसका भाव है—'प्रेम-नगर में हम घर बसायेंगे—सारे संसार को तज-कर। उस घर के आँगन में प्रेम होगा, द्वार से प्रेम झाँकेगा। प्रेम ही सखा होंगे, प्रेम के पड़ोसी होंगे। धर्म, कर्म, शृंगार, वैभव, सब प्रेम होगा।"

उसकी इस अपने में न समा सकने वाली प्रसन्नता देखकर उसकी माँ ने कहा—"अरी बावली, यह क्या करती है! तू जवान हुई, समझदार हुई।"

'जवान, जवान, जवान'—उसके मुख से एक बारगी ही कई बार यह शब्द निकल गया। मैं जवान हूँ, समझदार हूँ? तो क्या यह जवानी, यह समझदारी घुल-घुलकर मरने के ही लिये है? क्या यह यौवन-कुसुम बिना किसी प्रतिमा पर चढ़े ही मुरझा जायगी? नहीं, ऐसा वह नहीं होने देगी। अवश्य यह कुसुम किसी के लिये है। मेरे कोप में इस समय प्रेम की कमी नहीं। मैं उसे खुले हाथों लुटा रही हूँ, जो जो चाहे, ले ले। परंतु और कोई कैसे इसे ले सकता है? यह तो पहले ही एक देवता पर चढ़ चुका है।

एक बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी रमा इधर उसके विवाह के प्रति उदासीन-सी दिखाई देती थी। कभी रेणु से इस विषय में बात भी न करती थी, पर धीरे-धीरे घर में बहुत-सा सामान जाने क्यों एकत्र कर रही थी। रेणु ने कई बार पूछने का साहस भी किया, पर वह टाल गई। आज रेणु इन्हीं विचारों में डूबती-उतराती सुरेश के घर चली। मेरे इस कृत्य से मा को कितना कष्ट होगा। जब वह सुनेगी कि मैं एक दूसरी जाति के युवक से ब्याह करूँगी, तो वह क्या करेगी? उसका मातृ-हृदय चूर-चूर हो जागया। उस भग्न हृदय के एक-एक टुकड़े से मेरे लिये अभिशाप निकलेगा। तब मैं क्या करूँगी? क्या मैं विचलित हो जाऊँगी? नहीं, कदापि नहीं! अगर ऐसा हुआ, तो प्रेम का नाम संसार से उठ जायगा। मा को समझाउँगी, मनाऊँगी, यदि इतने पर भी वह न मानी,

तो उनके चरणों पर लौटकर कहूँगी—मा, अपराध हुआ, क्षमा कर दो। तब वह अवश्य पिघल जाएँगी। मुझे विवाह की आज्ञा दे देंगी।

रेणु जब सुरेश के कमरे में पहुँची, वह बैठा कंघी से बाल सँवार रहा था। धुले कपड़े पहने था। रेणु ने जाते ही पूछा—"कहीं जाने की तैयारी है क्या ?"

सुरेश चौंक गया, बोला—'हाँ, सोचा कि कहीं टहल आऊँ। पर यह तो बताओ, बिना मेरी आज्ञा के, यों छिपे-छिपे, मेरे कमरे में आने का क्या प्रयोजन ?"

रेणु—"अच्छा, तो लो, जाती हूँ।"

सुरेश ने देखा, रेणु वास्तव में जाने को उद्यत है। वह उठकर, द्वार रोककर बोला—"रेणु रानी, तुम्हें क्रोध बड़ी जल्दी आता है। मैं तो यों ही मजाक कर रहा था।"

फिर चारपाई पर बैठकर बोला—"इसमें तुम्हारा क्या दोष। छिपे-छिपे तो तुम मेरे हृदय में भी आई थीं। शोर मचाकर, आज्ञा लेकर आतीं, तो संभव था, मैं तुम्हें वहाँ न टिकने देता। फिर जब हृदय में आना न जान सका, कमरे में आना कैसे जान सकता!'

रेणु चुप। उसे कोई उत्तर न सूझता था। क्या कहे, वह सोच ही रही थी कि सुरेश सहसा बोल उठा—"रेणु रानी! अब शीघ्र ही हमारा मंगल-प्रभात होने वाला है। उस दिन सुबह की पहली किरण दो प्रेमियों को एक देखेगी। दुनिया के बंधनों

की परवा न कर, रिश्तेदारों के भय को व्यर्थ प्रमाणित कर, बाधाओं को ठुकराकर ले दो प्रेमी एक हुए हैं। एक दिन आवेगा, जब विश्व उनका गुण-गान करेगा।"

रेणु फूट पड़ी—"ऐसी बातें कहकर मेरा हृदय जलाओ मत। मैं जानती हूँ कि वह न होगा। वह मंगल-प्रभात सदा रात्रि की कालिमा में ही छिपा रह जायगा। संसार के गुण-गान करने के पहले ही दोनों प्रेमी इस विश्व से उठ जायँगे। केवल उनके नाम पर थूकने वाले रह जायँगे।"

सुरेश को अब मालूम हुआ कि रेणु अभी सब घटनाओं से अनजान है। इतने दिनों में क्या-क्या हो गया, यह वह नहीं जानती। बोला—'क्या तुम कुछ नहीं जानतीं ?"

रेणु—"मैं कह नहीं सकती, मेरे हृदय में कितकी पीड़ा हो रही है। अब जीना कठिन हो रहा है। तन-बदन फुँका जा रहा है। मेरे ही कारण आज तुम भी बदनाम हो रहे हो चारों ओर मेरे-तुम्हारे प्रश्न को लेकर तरह-तरह की आलो-चनाएँ हो रही हैं। हमें ताने मारे जा रहे हैं। हम लांछित किए जा रहे हैं, कुल के कंलक कहे जा रहे हैं। जिसके जो जी में आता है, कह रहा है, कोई रोकने वाला नहीं।"

सुरेश अब रेणु को इस प्रतारणा में देख न सका। यह भोली-भाली युवती अपनी ही सीमा में कितनी घिरी है, यह देखकर उसे आश्चर्य हुआ। बोला—'हम दोनों के परिवारों ने......"

रेणु ने जैसे सुना ही नहीं, कहती गई—"हाँ, मैं जानती

हूँ, हम दोनों के विवाह के लिये कितने प्रतिबन्ध लगाए जा रहे हैं। यदि मैं जानती कि प्रेम करने का यह फल होगा, किसी को अपना हृदय-दान करने का यह परिणाम होगा, तो कभी न तुमसे प्रेम करती। भीतर-ही-भीतर अपना हृदय जला डालती, खाक कर डालती, पर तुम्हें अपमानित होने से बचाती। आज लोग तुम्हें देखकर हँसते हैं, तुम्हें अपमानित करने में गर्व समझते हैं, और मैं केवल देखा-सुना करती हूँ क्योंकि मैं जानती हूँ, तुम्हारी यह दशा मैंने की है! भगवान्!"

उँह इसकी मुझे परवाह नहीं। समाज और संसार से डरे वह, जिसने वास्तव में कोई पाप किया हो। प्रेम का घूँट विष के घूँट से भी कड़ुवा होता है। यह मैं जानता हूँ कि विशुद्ध और पवित्र भाव से प्रेम करना कोई पाप नहीं, और इसके लिये संसार क्या, मैं ईश्वर के आगे भी नहीं झुक सकता।"

रेणु—'तुम्हारे इन्हीं शब्दों ने अभी तक मुझे शांति रक्खा है, पर अब शांति जैसे दूर भागना चाहती है। जब सोचती हूँ, यह प्रेम यों ही दबा दिया जायगा, निराशा, परिताप और वेदना की आँधी इसे दूर उड़ा ले जायगी, तो कलेजा मुँह को आने लगता है। यदि पहले जान पाती! अब हमारे लिये यही अच्छा होगा कि हम एक दूसरे को बिलकुल भूल जायँ, हृदय-मंदिर से एक दूसरे की प्रतिमाओं को जबरन् निकालकर फेंक दें। वहाँ कठोर समाज द्वारा मोल ली हुई मूर्तियों को स्थान दें।"

सुरेश ज़रा ज़ोर से बोला—"पगली, हम दोनों के परिवारों

ने हमें अपने विवाह के विषय में पूरी-पूरी आज्ञा दे दी है। शीघ्र ही हम दोनों विवाह के सूत्र में बँधने जा रहे हैं। माताजी इसके लिये पूरी तैयारियाँ कर रही हैं।"

रेणु जैसे कुतुबमीनार से बोल रही हो—बहुत ही धीमे स्वर में आँखें फाड़कर बोली—"तुम क्या कह रहे हो, कहीं पागल तो नहीं हो गए?"

सुरेश—'जो कुछ कह रहा हूँ, वह ठीक कह रहा हूँ। अब इसमें संदेह नहीं। उठो, खुशियाँ मनाओ। अब मैं तुम्हारा 'पति' हूँ मैं आज्ञा देता हूँ इस शुभ अवसर पर एक बढ़िया-सी रसीली कविता सुनाओ."

रेणु—"ओह, अभी से अपना अधिकार जताने लगे। खैर, यह तो बताओ, यह हुआ कैसे?"

सुरेश—'अभी तीन-चार दिन हुए, मेरी माताजी तुम्हारे यहाँ गई थीं। मेरी दिनों दिन गिरती हुई अवस्था से वह जानकार थीं। तुम तो यह जानती ही हो कि पिताजी की मृत्यु के बाद से उन्होंने मुझे ही अपना सब कुछ मान लिया है। मेरे लिये, मेरे सुख के लिये वह सब कुछ त्याग कर सकती हैं। उन्हें हमारा प्रेम सबध पहले से मालूम है। उन्हें विश्वास था, मैं विवाह करूँगा, तो तुम्हीं से, नहीं तो कॉरा रहूँगा। केवल ये ही बातें करने तुम्हारी माताजी के पास गई थीं। जब मेरी माताजी की ओर से यह प्रस्ताव हुआ कि तुम्हारा विवाह मेरे साथ हो, तो तुम्हारी माताजी

पहले तो इस पर विश्वास ही न कर सकीं। अंत में वह मान गईं। उन्नत, उदार विचारवाली जो ठहरीं। वर्तमान शिक्षा के कारण, देश में होने वाले नित्य के परिवर्तनों के कारण उन्होंने शीघ्र ही सम्मति दे दी। वह पुराण-पंथी नहीं हैं।"

रेणु अब समझ रही थी कि रमा क्यों इतना सामान घर में भरे जा रही थी। ये उसके विवाह की तैयारियाँ थीं। उसका हृदय अपनी माता के प्रति श्रद्धा से भर गया। उस आदि शक्ति, प्रेममय भगवान् के स्मरण में उसका मस्तक नत हो गया। इसी समय सुरेश ने उसकी तन्मयता भंग करते हुए, उसकी ठुड्डी ऊपर उठाते हुए कहा—"अब भी वही उदासी! एक कविता न सुनाओगी?"

रेणु यदि दिखा पाती, तो दिखाती कि यह जो आनन्द का महासागर उसके हृदय में सहसा हिलोरें ले उठा है, विश्व का समस्त सुख और सौंदर्य उसमें जाकर लय हो गया है। एक कविता क्या, एक छंद क्या, उसके चारों ओर इस समय रागों की दुनिया बिखरी पड़ी है। उसे समझ नहीं पड़ रहा है कि किस स्वर में कौन उल्लास की रागिनी निकाले। वह जैसे सब कुछ भूल गई है। स्वयं अपनी कविता भी तो अब उसे याद नहीं। उसकी आँखें सुरेश की आँखों से मिलीं, प्रेम की धारा बहने लगी, हृदय-कुसुम खिल उठा। उसने सुरेश की छाती पर सिर रख दिया और आँखें बंद करलीं।

बड़ी धूमधाम से विवाह हुआ। बहुत-से लोग आए। इस

संबंध पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले धर्म के ठेकेदार भी आए, समाज के लिये आदर्श उपस्थित करने के लिये बधाइयाँ देने वाले भी। अधिकतर धर्म के ढोंगी पुजारी ही थे। सबका स्वागत किया गया।

व्याह दूसरे ही दिन सुरेश रेणु, महादेई और मालती को लिवाकर सुहाग-रात मनाने के लिये मसूरी चला गया। एक महीने वहाँ रह कर फिर वह घर लौट आया।

संदेह मानव-जीवन की सबसे बड़ी भूल है, जो स्वर्ग को नरक में परिणत कर देता है। जीवन की धारा गणित-विधि के बीच में आकर यह एक को दूसरे से कितनी दूर ले जा फेंकता है, यह कहा नहीं जा सकता। मिले हुए दूध और पानी में जिस तरह थोड़ी भी खटाई पड़ जाने पर वे फट जाते हैं, दो मिले हुए हृदयों को संदेह उसी प्रकार अलग कर देता है। रमेश के जीवन में इसी संदेह ने घर किया है, जिसके फलस्वरूप उसका और मालती का रास्ता आज अलग-अलग है। मालती ने भरसक अथक प्रयास किया कि रमेश का संदेह दूर हो जाय, उसके मन में जो अनुचित धारणा बैठ गई है, वह हट जाय, किंतु बेचारी अपने इस प्रयत्न में असफल रही। कई बार उसने पति से खुलकर बात कर लेनी चाही, किंतु रमेश ने ऐसी दृष्टि से उसकी ओर देखा, जिससे स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि वह समझौते का कोई भी रास्ता नहीं पसंद करता। दूध में पड़ी हुई मक्खी आँखों से देखकर नहीं

निगली जाती। यदि उसने मालती के चरित्र के विषय में केवल सुनकर ही अपनी धारणा स्थिर कर ली होती, तो वह दोषी था, किंतु उसने तो स्पष्ट प्रमाण पाया था। अब भी वह इसे भ्रम समझ सकता था? प्रवचन या धोखा मान सकता था? इस सबल और पुष्ट प्रमाण के आगे उसे और किसी सुबूत की आवश्यकता नहीं रह गई थी। जो कुछ कमी थी, वह मोहन का पत्र देखकर मालती के मुख के बदले हुए भाव ने पूरी कर दी थी। यदि उस पत्र का कोई गूढ़ अर्थ न था, तो उसे देखकर मालती चौंक क्यों उठी? अन्यमनस्क-सी क्यों हो गई? मौन क्यों हो गई? कभी-कभी अपने पाप छिपाने के लिये हम चुप हो रहते हैं। अवश्य उस पत्र में कोई भेद है। पता लगाना होगा।

आज रमेश बहुत उद्विग्न हो रहा था। कहीं जाकर, किसी को सुनाकर अपने मन की ज्वाला शांत करना चाहता था। एकाएक उसे मेनका का ध्यान आया। आज कितने दिन हुए, वह उस ओर गया तक नहीं। रूप के बाजार की वह देवी मेरी राह देखती होगी। माना, वह वेश्या है, माना, वह समाज द्वारा ठुकराई हुई अपदर्थ पतिता है। चाँदी के कुछ टुकड़ों के बल पर प्राप्य उपभोग्या नारी है। यह सब सही है किंतु कितने ऐसे हैं, जिन्होंने उसका-सा हृदय पाया है? जो उसे अपने लिये कलंक खेल का साधन,

और मनोरंजन की वस्तु समझते हैं, उन्हें भी तो वह थोड़ी देर के लिये शांति देती है! जो रो रहे हैं, जिनका बिंधा हुआ हृदय तड़प रहा है, उनका रुदन भी उसके यहाँ जाकर आनंद की बहिया में बह जाता है, घाव का मरहम मिल जाता है। जितनी देर उसके यहाँ बैठिए, दिल की होली बुझी रहती है। फिर वह क्यों न उसके यहाँ चले? वह भी तो जल रहा है! उसे भी तो कोई संतोष देनेवाला चाहिए। मेनका उसे जानती है। कितने दिनों तक उसके इशारों पर नृत्य कर चुकी है। वही इस समय उसे क्षणिक शांति दे सकेगी। भले ही वह पापिनी है, किंतु इस समय रमेश के लिये साक्षात् स्वर्ग की देवी बनकर आ गई है। उसके पास जाकर, उससे अपने मन की बात कहकर शायद रमेश थोड़ी देर के लिये यह भूल जा सके कि वह दुखी है। कभी-कभी हमें ऐसे लोगों से लाभ होता है, जिनकी हम कल्पना भी नहीं करते। एक कुल-वधू द्वारा लगाई हुई आग बुझाने के लिये हम वेश्या की शरण लें, तो दुनिया इसे नीचता और आचार-भ्रष्टता ही कहेगी। उसमें इससे आगे जाने की सामर्थ्य ही नहीं!

रात के लगभग दस बजे थे, जब खिन्न-मन रमेश घर के बाहर निकला। उसे ऐसा जान पड़ता था, इस घर में उसके प्राण घुट जायँगे। वह सीधा रूप के बाज़ार की ओर चला, जहाँ उसके-जैसे कितने ही शांति के अन्वेषक घूम रहे

थे। यह एक विचित्र बात है कि सौन्दर्य और यौवन रात्रि में अधिक सजीव हो उठते हैं। यहाँ भी प्रत्येक महिला इस समय अप्सरा बनी हुई थी। लोगों का आना-जाना हो रहा था, वस्तुओं का क्रय-विक्रय हो रहा था, तबले की ठनक और मधुर नारीकंठों से निकली हुई रागिनियों की गूँज थी, किंतु रमेश डगमग-पग, अस्थिर-मन अपने चिर-परिचित रास्ते पर बढ़ा जा रहा था। उसे न तो ज़रा-ज़रा से रूप की आँच पर मोम की तरह पिघल जाने की आदत थी, न इस कोलाहल-पूर्ण वातावरण से कोई आकर्षण। उसे मतवालों की तरह आँखें नीची किए चले जाते देखकर कितनी ही सुन्दरियों ने आकृष्ट करने की चेष्टा की, किंतु वह बिना उस ओर देखे अपनी अभ्यस्त राह पर चलता गया। वह उन पेशेवर वेश्यागामियों में हीं था, जो गली में अकड़कर, छाती फुलाकर, आँखें ऊपर किए चलने में ही गर्व समझते हैं। जो समझते हैं, यहाँ की प्रत्येक वेश्या उन्हें कामदेव का अवतार ही समझ रही है, और उन्हीं को देख रही है। आख़िर वह स्थान भी आ गया, जहाँ रमेश को जाना था। उसने दूर से ही देख लिया कि मेनका नित्य की भाँति अपनी खिड़की पर बनाव-शृंगार किए बैठी है, और उस राह से आने-जानेवालों की दृष्टि का केंद्र बिंदु बन गई है। उसी समय एकाएक मेनका ने एक आगे जानेवाले की ओर देखने के लिये सिर घुमाया। रमेश ने समझा, यह इतने दिनों बाद मुझे देखकर घृणा से मुँह फेरे ले रही है।

किंतु फिर भी जाना ही होगा। डरते-डरते रमेश ने सीढ़ियों पर क़दम रक्खा और ऊपर चढ़ गया। द्वार पर बुढ़िया नायिका मिली। रमेश को देखते ही दौड़ी हुई मेनका के पास पहुँची और बोली—"बेटी, आज बहुत दिनों बाद रमेश बाबू आए हैं। देखो, अच्छी रक़म वसूल करना।" और फिर दौड़ी हुई बाहर आकर और रमेश से बोली—"आइए, आइए बाबू! आज हमारे बड़े भाग, जो दर्शन हुए। आइए, मेनका यहीं है। मैं पान लेती आऊँ।"

सहमते हुए कलेजे से रमेश अन्दर घुसा। मेनका ने हँसकर स्वागत किया और आदाब बजा लाई। रमेश एक ओर बैठ गया और बनावटी हँसी हँसकर बोला—"अच्छी तो है? बहुत दिनों पर आ सका।"

वियोग के बाद मिलन अधिक मधुर होती है। रमेश के इतने दिनों के न आने ने मेनका की दृष्टि में उसका मूल्य बढा दिया था। मिलन को और भी मधुर करने की नीयत से रूठे कण्ठ से बोली—'हाँ आपकी दुआ से अच्छी हूँ। इतने दिनों पर आ गए, यह क्या कम मुरौवत है? न आते, तब भी मैं क्या कर लेती?"

रमेश अपनी दृष्टि में आप ही नीचा लगने लगा। उसे कभी-कभी तो इधर आना ही चाहिए था। मेल-मुलाकात उसकी ओर से ही तो आरंभ हुई थी! मेनका तो उसे बुलाने गई नहीं थी! फिर उसे इस पुष्प को दलने का क्या अधिकार

था ? लज्जित स्वर में बोला—"हाँ, ग़लती मेरी है। मुझे कभी-कभी अवश्य आपके दर्शन करने चाहिए थे।"

मेनका—"शायद नई बीवी से फ़ुरसत न मिलती हो कि हम ग़रीबों की ओर भी करम की निगाह फिरे। हम तो पैर की जूतियाँ हैं। जितने दिन जी चाहा, पहना, फिर उतारकर फेंक दिया। क्यों जनाब!"

मेनका की बूढ़ी नायिका मुसलमान थी। बचपन से ही उसके साथ रहते-रहते मेनका बहुत साफ़ उर्दू बोलने लगी थी। उसके इस 'नई बीवी' शब्द ने रमेश को खुल पड़ने का अवसर दिया। उसने विरक्त भाव से कहा—"यदि मुझे यहाँ न रहने देना हो, तो कह दो, उठकर चला जाऊँ। मेरा मज़ाक़ क्यों उड़ाती हो ? नई बीवी! नई बीवी! यदि आकर अपने पति के हृदय पर छुरी चलाती हो, तो उसका न आना ही अच्छा। फिर तुम उसका नाम न लेना।"

मेनका कुछ समझ न सकी। रमेश एकाएक इतना क्यों उबल पड़ा, यह जानने का उसके पास कोई साधन न रहा। रमेश ने स्वयं धीरे-धीरे सब बातें कह सुनाईं। अन्त में बोला—"और इसीलिये तुम्हारे पास आज आया हूँ। तुम लोग बहुत सहती हो, पुरुषों की पैशाचिकता का नग्न नृत्य नित्य ही देखत हो, और फिर भी उन्हें नचाती फिरती हो। क्या तुम मेरे लिये कोई दवा नहीं दे सकतीं ? मेरा जीवन साक्षात् नरक हो उठा है। मेरी दशा केवल वही पुरुष समझ सकता है,

जिसकी पत्नी उसे न चाहकर मन-ही-मन अन्य किसी की आराधना करती हो। तुम समझोगी, क्योंकि तुम्हारे पास हृदय है। तुम दिल के घावों पर मरहम का काम करती हो। मेरे भी दिल में घाव है, जो नासूर हो चला है।"

मेनका के अब तक के जीवन में यह प्रथम अवसर था, जब एक युवक उससे इतने स्पष्ट रूप में बोल रहा था। वह अब जाने क्यों रमेश को अपने यहाँ आने-जानेवालों की कोटि में न रख सकी। उसे अकस्मात् ही उसकी दशा पर दया आ गई। यदि उसके परिश्रम अथवा संकेत से इस अभागे का जीवन सुखी हो जाय, तो वह अपना जीवन धन्य समझेगी। अब तक उसने दुनिया की दृष्टि में कितने घर तबाह किए थे, आज वह अपनी दृष्टि में एक घर बसाने जा रही थी। सोचकर बोली—"रमेश बाबू, एक बात बताएँगे? आप इतने दिनों से मेरे यहाँ आते हैं। मेरे लिये आपने अपने रुपए बर्बाद किए, मेरी छोटी-मोटी जरूरतों को खुशी से पूरा किया। मैंने उसके बदले में आपको क्या दिया? क्या आप यह नहीं जानते थे कि मेरे यहाँ आपकी ही तरह और भी अनेकों आते हैं और मेरी एक मुस्किराहट के लिये सैकड़ों रुपए पानी की तरह बहा देते हैं? क्या आप यह नहीं जानते थे कि मैं आपकी कभी नहीं हो सकती? आप केवल मेरा शरीर पा सकते हैं, मन नहीं? आपसे मेरा सिर्फ मतलब का नाता है?"

रमेश बेहयाई से बोला—"तुम्हारी बात दूसरी है मेनू ! तुम्हारे बारे में सब जानते हैं कि तुम्हारा पेशा यही है। तुम यदि एक ही को प्यार करने लगो, तो घर में ही न बैठ रहो। यहाँ बाज़ार में बैठकर सतीत्व की उपासना कभी संभव भी है ?

मेनका—"मैं यह नहीं पूछती। मैं केवल यह कहती हूँ कि कभी मैं भी तो घर की देवी थी। कभी मैं भी तो इस योग्य थी कि मेरी गणना कुल-वधुओं में की जा सके। तुम मेरी कहानी जानते हो। तुम जानते हो, इसी तरह की परिस्थितियों ने मुझे ज़बरदस्ती आज इस बाज़ार में ला बिठाया है। जो मैं कभी नहीं चाहती थी, वही आज कर रही हूँ। तुम समझते होगे, स्त्री आरम्भ से ही पतन की भूखी होती है। उसे यदि अवसर मिले, तो वह अवश्य चरित्र से गिर जायगी। मैं कहती हूँ, यह तुम्हारा भ्रम है। स्त्री स्वयं कभी गिरने नहीं जाती। उसे गिरानेवाले पुरुष ही होते हैं। मुझे ताज्जुब होता है, जिस जुल्म का शिकार मैं खुद हूँ, तुम उसी जुल्म की दवा मुझसे पूछते हो। फिर भी तुम्हें बताऊँगी। तुमसे कुछ स्नेह है, इसीलिये तुम्हारे ऊपर गुस्सा न करके तुमसे सीधे दो बातें कहना चाहती हूँ। एक मियाँ-बीबी में शुरू से ही मुहब्बत न हो, यह तो मैं मान सकती हूँ। उस हालत में, मेरी समझ से, वे एक दूसरे को खुशी से छोड़ सकते हैं। उनका यह काम दुनिया की निगाह में क़ाबिले-तारीफ़ न होगा, लेकिन मैं इसे बुरा न कह सकूँगी। मुझे अपने इस पेशे में बराबर मर्दों से

ही साबका पड़ा है। उनके दिलों को मैंने जितना पढ़ा है, उतना शायद वे ख़ुद नहीं पढ़ सकते। मैं जानती हूँ, वे अपनी बीबियों से क्या चाहते हैं। वे रूप नहीं चाहते, लियाक़त नहीं चाहते, धन नहीं चाहते, दुनिया की और कोई चीज़ नहीं चाहते। चाहते हैं कुछ ऐसा, जो उनके प्यासे दिलों को ठंडा कर दे। चाहते हैं वह दौलत, जो उन्हें यह महसूस कराए कि वह कुछ नहीं चाहते। इतने में ही ख़ुश हैं। और, जब यह नहीं हो पाता, तभी एक शौहर अपनी बीबी को छोड़कर इस गली में आ पहुँचता है। तुम भी एक ऐसे ही प्यासे हो, यह मानती हूँ, और इसीलिये तुम्हारे ऊपर दया आती है। लेकिन माफ़ करना, अगर मैं कहूँ कि इसमें तुम्हारा ही कसूर ज्यादा है। तुमने ख़ुद ही अपनी यह हालत बनाई है।"

रमेश—"यह तुम क्या कहती हो मेनू ? कोई आदमी ख़ुद ही आग में कूदना चाहेगा ? ऐसा तो कहीं नहीं होता।"

मेनका—"और, मैं कहती हूँ कि कभी-कभी ऐसा ही होता है। तुमने शुरू में तो अपनी बीबी से प्रेम किया था न ?

रमेश—"हाँ ! उस समय मुझे यह गुमान भी न था कि एक दिन उसका परदा फ़ाश हो जायगा। उस समय तो मैं उसके लिये प्राण भी दे देता।"

मेनका—"यही तुम्हारी ग़लती थी। तुमने उससे क्या देखकर मुहब्बत की थी? यही तो कि वह सुन्दर है, लायक है, पढ़ी-लिखी है। शायद ये ही सब बातें मर्द को औरत की ओर खींचती हैं। फिर मर्द यह क्यों नहीं खयाल करता कि जिस चीज़ को वह इतना पसन्द करता है, उसी चीज को कोई दूसरा भी पसन्द कर सकता है। और, मुमकिन है कि उस पसन्दगी का असर उस स्त्री पर ताज़िन्दगी बना रहे। नई बीबी का अपने शौहर से थोड़े दिनों का साथ होता है। उसके पहले की सारी बातें वह मिनटों या चन्द दिनों में भूल जायगी, यह मर्द क्यों चाहता है? मुहब्बत करना और उसे निभाना आसान नहीं है बाबू साहब! उसके लिये अपना खून सुखाना होता है। अगर किसी से दिल लगाने के पहले आदमी आगे की बातें भी सोच ले, और सारे अंजामों को भुगतने के लिये अपने को तैयार कर ले, तब तो प्यार का जुआ अपने गले में डाले, नहीं तो नहीं। तुम्हारी बीवी अभी तक उस लड़के की याद नहीं भूल सकी, इसमें उसका क़सूर मैं नहीं देखती। तुम अभी तक यह साबित ही नहीं कर सके कि तुम उससे बढ़कर हो। जिस दिन वह ऐसा समझ लेगी, उस दिन खुद ही तुम्हारे पाँव पूजेगी।"

रमेश बुत बना हुआ था। वह क्या कहे! यह पापिनी नारी आज उसे बात-ही-बात में कितनी सीख दे गई। वह सोच रहा था—हिन्दू-समाज आकर देखे। जिस नारी की

छाया से भी वह दूर भागने का ढोंग करता है, वह कितनी महत् और उदार है। जिसे वह वेश्या कहता है, वही अभी युग-युग तक उसे ग़लत राह से खींच लाने की ताक़त रखती है, क्योंकि उसे अनुभव है। हाँ, उसे परखने की तमीज़ चाहिए।

मेनका उसे ढाढ़स देने की ग़रज़ से बोली—"एक काम करो। केवल ऐसी ही बातों पर विश्वास कर लेने की ज़रूरत नहीं। तुम ख़ुद अपनी बीबी के मायके जाओ, और बहाने-बहाने उस लड़के का पता लो। अगर वह वाकई गिरी हुई चालचलन का आदमी है, तो उसका उपाय खोजना होगा। तुम अपने पिताजी से रुपए माँगने में संकोच करते हो, तो मैं रुपए देती हूँ। मैं जानती हूँ, तुम उन्हें लौटा दोगे और सूद-सहित। बोलो, जाओगे ?"

रमेश—"हाँ मेनू, तरीका तो अच्छा है, पर पिताजी से तो मैं रुपए न माँग सकूँगा।"

मेनका उठी, और भीतर से पचास रुपए लाकर रमेश को देती हुई बोली—"पहली ट्रेन से जाओ। लौटकर सब हाल मुझसे कहना। यह ख़याल रखना, ये सब बातें मैंने तुम्हारा दिल और भी दुखाने की नीयत से नहीं कही हैं, तुम्हारे भले के ही लिये कही हैं।"

रमेश यहाँ से चला, तो उसके पाँव मन-मन-भर के हो रहे थे। जब तक वह दिखाई देता रहा, मेनका खिड़की से उसे

देखती रही। ओझल हो जाने पर उठी और कमरे में आकर पड़ रही। उसकी अपनी पूर्व-दशा इस समय उसके सामने आ खड़ी हुई। किस प्रकार इसी संदेह ने आज उसे इतना ज़लील पेशा अख्तियार करने पर मजबूर किया है।

नायिका ने आकर पूछा—"क्यों बेटी, आज कितना दिया? गए तो बड़े उदास होकर।"

मेनका—"हाँ, दिया तो कुछ नहीं। मैं माँगना ही भूल गई। अलबत्ता उन्हें ५० रुपयों की ज़रूरत थी, मैंने दे दिए।"

नायिका उसकी ओर देखती ही रह गई। कुछ बोल न सकी। यह पहेली उसकी समझ में नहीं आई।

(१६)

वृंदावन का श्मशान दोनों ओर के पथरीले किनारों के बीच में कलकल करती, उछलती-कूदती यमुना ऐसी बह रही है, जैसे कोई अल्हड़ युवती बंधनों की परवा न कर संगीत की धारा में बही चली जा रही हो। उसका वह श्याम वर्ण देखते ही बनता है। नीले रंग की लहरों पर सूर्य की किरणें खेल रही हैं। कितने जीव-जंतु उसके अंचल में विश्राम कर रहे हैं, यह कहना कठिन है। कितने ही 'पुण्य' लूटनेवाले तट पर एकत्र हैं, किंतु कितने स्नान के लोभ से आए हैं और कितने 'मोक्ष' की भूखी युवतियों को देखकर आँखें सेंकने, यह कहना कठिन है। चारो ओर असंख्य मनुष्य जमा हैं। कोई तान छेड़ रहा है, कोई कृष्ण के प्रेम में लीन उनकी स्तुति कर रहा है। किंतु यह तो इस तट की बात हुई। उधर जिस ओर श्मशान है, वहाँ इतने जन नहीं हैं। दस-बीस व्यक्ति अलबत्ता अपने-अपने काम में लगे हैं। चारों ओर शांति है। दिन के प्रखर प्रकाश में भी जैसे वहाँ अंधकार हो। पेड़ों ने घनी छाया कर रक्खी है, नीरव विषाद की कालिमा जैसे पुती हो।

कठोरता की छाती छेदती हुई श्मशान से सटी एक कुटी खड़ी है। तृणों का एक द्वार है। यदि आप कुटी के भीतर झाँककर देखें, तो वहाँ दो-एक टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तनों और एक फटी-सी धोती के अतिरिक्त कुछ न देख पाएँगे। एक कोने में वही धोती बिछी है, जिस पर रामायण की छोटी पोथी रक्खी है, और कुछ फूल अस्त व्यस्त पड़े हैं। एक ओर मिट्टी का दीपक है, जिसकी लौ रात्रि को घोर अँधेरी में व्यर्थ हिल-हिलकर उस अंधकार को मिटाने का प्रयत्न करती है। ऊपर असख्य तारे झिलमिलाते हैं, नीचे कलकलनादिनी यमुना बहती है, बीच में वह कुटी उन्नत मस्तक किए खड़ी है।

इस समय प्रातःकाल के आठ बजे होंगे। ज्येष्ठ का महीना। धूप की प्रखरता के कारण लोग धीरे-धीरे घरों की ओर खिसकने लगे हैं। इसी समय एक युवती, जिसका यौवन अब कुम्हलाए हुए फूल के समान हो रहा है, जो युवती होते हुए भी मन से गंभीर, तपस्वी और साधु मालूम होती है, कुटी के बाहर निकली। उसके बाल बिखर रहे थे, फटी-सी मैली धोती पहने हुए थी, जो अंगों को कठिनाई से ढँक रही थी। एक बार उसने हाथ उठाकर धूप रोकने का निष्फल प्रयास किया, और बोल उठी—"ओह, अभी से इतनी धूप! आज पढ़ते-पढ़ते अधिक धूप हो गई क्या! पीने का पानी भी इसी समय चुकना था!" यह कहकर वह तेजी से घाट की ओर बढ़ी। घड़े को पानी में डुबोकर वह इधर-उधर देखने लगी।

सहसा उसकी दृष्टि उस पार घाटों पर गई। वह सोचने लगी—यह जो इतनी स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के साथ स्नान करने आई हैं, उनका विचार है, पति के साथ स्नान करने से अक्षय पुण्य की उपलब्धि होती है। उनका यह विचार कहाँ तक ठीक है, यह तो मैं नहीं जानती, पर ऐसा करने में उन्हें एक आत्मिक संतोष, आनंद और सुख की अनुभूति होती है। जिस समय वे पति का हाथ पकड़े पानी में उतरती हैं, और आस-पास की अन्य स्त्रियों पर गर्व की, उल्लास की और परितृप्ति की दृष्टि डालती हैं, उस समय उन्हें स्वर्ग मिल जाता है। मानो वे स्त्रियों से ललकारकर पूछती हैं—बताओ, तुम्हारे पास ऐसी अतुलनीय संपत्ति, अमूल्य निधि, अनुपमेय विभूति कहाँ है ? मेरी वह सपत्ति, निधि, और विभूति किसने छीन ली ? मेरे पास वह संतोप, आनन्द और सुख कहाँ है ? मैं भी तो सुहागिन हूँ, मेरे मस्तक पर भी तो वह दांपत्य का पवित्र और गौरवमय चिह्न सिंदूर है। सारा संसार मुझे सुहागिन और पतिवाली समझता है, किंतु मेरे हृदय की आग ने निरंतर जल-जलकर, दानवी की भांति वेग से धधककर मुझे क्या से क्या बना दिया है, यह कौन जानता है ? मैंने ही अपनी उस संपत्ति, निधि और विभूति को ठोकर मारकर अपने से दूर कर दिया है। अपने उस संतोष, आनन्द और सुख को बरबस अपने हृदय से निकाल फेका है। आह भगवान्, मैं अब क्या करूँ ?

फिर सहसा जैसे कोई गहरी निद्रा से जाग पड़े, एक लंबी साँस लेकर बोली—"वाह, जरा-सा पानी लेने में इतनी देर लगा दी! कोई देखेगा, तो क्या कहेगा।" जल्दी से घड़ा उठाकर कुटी की ओर चल दी।

आज दिन-भर उसका मन उदास रहा है। विचार-सागर में गोते लगाते-लगाते इसका मस्तिष्क शिथिल होता जा रहा था। आज कुन्दन को दिन-भर पति की याद आती रही। उस निश्चल प्यार, उस अकपट स्नेह की एक किरण से अपने जीवन को पुनः आलोकित कर लेने का विचार बार-बार उसके मन में उठने लगा। वह अब जाने क्यों एक बार कृष्णशंकर के दर्शन कर लेना चाहती थी। एक बार उनके चरणों पर लोटकर उसने अपने गुरुतर अपराधों के लिये क्षमा माँग लेना चाहती थी। क्या वह एक बार उसे न मिलेंगे? फिर वह सोचने लगी—मेरे सहसा यों चले आने पर उन्हें कितना कष्ट हुआ होगा। दिन-रात एक करके, भूख-प्यास छोड़कर वह मुझे खोज रहे होंगे। मेरी खोज में दर-दर घूमते रहने से पैरों में छाले पड़ गए होंगे! मुख-कमल मुरझा गया होगा। फिर भी वह खोजते ही होंगे। मैंने उन्हें बड़ा कष्ट दिया।

और, जब उस पार, वृक्षों और मकानों की पंक्ति के ऊपर से सूरज प्रायः डूब-सा गया, तब तक उसने दिया नहीं जलाया। उसी तरह बैठी रही। रात्रि को वह आस-पास के

बालकों को रामायण पढ़ाया करती, आज उसे इसका भी ध्यान नहीं था। जिस दिन से वह इस गाँव में आई, लोगों ने उसके सरल व्यवहार, शुद्ध प्रेम और उदार हृदय के कारण अनायास ही उसे 'माता' मान लिया। वह किसी का दुख, दर्द, कष्ट और संताप नहीं देख सकती थी। इनकी गध लगते ही वह पागल हो जाती। किसी क घर कोई बीमार हो, आप कुंदन को दिन-रात वहाँ बैठी पावेंगे। किसी के घर व्याह आदि उत्सव हो, कुन्दन वहाँ का सारा प्रबंध कर रही होगी। किसी परिवार का हाल उससे गुप्त न था। किसी युवक-युवती के हृदय की गुप्त अनुभूतियों से उस अनभिज्ञता न थी। प्रत्येक विषय में उसकी सहायता ली जाती। उसे इन बातों में अपने हृदय की उमड़ती नदी को, जो बाँध तोड़कर बह निकलना चाहती थी, रोकने में सफलता मिल रही थी।

बालकों की एक टोली उछलती-कूदती कुटी के द्वार पर आकर खड़ी हो गई। पीछे-पीछे उनकी माताए, बहनें आदि थीं। किसी के हाथ में चिमटा था, किसी के कलछुल। सब कहती आती थीं—"चल-चल, अभी माईजी से कहकर तुझे ठीक किए देती हूँ। बड़ा ऊधमी बना है।"

बालकों ने आकर कुंदन को घेर लिया। साथ की स्त्रियों में से एक बोल उठी—"क्या कहें माईजी, तुमने इन सबको बड़ा ऊधमी बना दिया है। जहाँ साँझ हुई नहीं, ये सब गले पड़े कि माईजी के यहाँ रामायण सुनने चलो। सब काम

धंधा छोड़कर हमें इनके पीछे दौड़ना पड़ता है।" फिर जैसे किसी को सुनाना न चाहती हो, उस स्वर में बोली—"सच बात तो यह है, कि इनकी बदौलत हमें भी वह कथा सुनने को मिल जाती है। धन्य हैं हमारे भाग! हम दिन-रात, सोते-जागते उठते-बैठते कृष्ण की लीलाओं में रत रहनेवाले यह कहाँ जानते थे कि रामायण में भी ऐसी उत्तम बातें लिखी हैं। अच्छा, भला माई जी, रामचन्द्रजी ने जो उस धोबिन के कह-भर देने से सीताजी को छोड़ दिया था, उसमें सीता का तो कोई कसूर था नहीं! वह तो बड़ी पवित्र थीं। फिर रामचन्द्रजी ने उन्हें छोड़कर पाप किया न?"

एक षोडशवर्षीया बोली—"तुम्हें तो काकी, बेवक्त, की बातें सूझती हैं। कुछ देखती-सुनती नहीं हो। क्यों माई जी, अभी दिया नहीं जलाया?"

इन सरल, अकलुष, उदार और प्रेम-भरे हृदयों के बीच में रहकर कुन्दन यही सोचती रहती कि क्या मेरा भी हृदय ऐसा ही स्वार्थ-हीन, सहृदय और उन्नत हो सकता है? आत्म-संतुष्टि और अपनी छोटी-सी दुनिया में विधि के दिए हुए साधनों पर ही सुख मानने वाली इन स्त्रियों में क्या कुछ नहीं था, जो कुन्दन में विशेष था? फिर उसके हृदय में असंतोष की ज्वाला क्यों धधक उठी? एक लम्बी साँस लेकर थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली—"साँझ हो गई है, दिया जलाना आवश्यक है। किंतु मुझे उजाले की आवश्यकता नहीं। ज्वालामुखी

का विस्फोट हो चुका है। निराशा की विकट अँधियारी में उसी अनल-स्फोट की लाल-लाल शिखाएँ जीभ लपलपाती सी जान पड़ती हैं। समाज की बलि-वेदी पर एक निरीह प्राणी का बलिदान कर दिया गया है और उसी की भग्न-समाधि पर रण-चण्डी अट्टहास कर रही है। बोलो मत।"

एक युवती ने दिया जला दिया। कुन्दन ने गंभीर भाव धारण कर लिया। मुख पर विलक्षण भावों का नर्तन होने लगा। आँखें किसी अज्ञात भाव से चमककर लाल हो उठीं। निरंतर मुँह लगी होने के कारण एक बालिका ने साहस करके पूछा—"माईजी, आपने कई बार अपने जीवन की कहानी सुनाने को कहा, किंतु अभी तक हमने उसे न सुना। आज कृपा कर सुना दीजिए। आज हम पाठ न पढ़ेंगे।"

बालिका की माता ने पीछे से उसे एक ठोंका मारा—"बड़ी ढीठ है तू!"

आँखों से आग की चिनगारियाँ निकालते हुए कुन्दन बोली—"हाँ सुनो, आज अपनी कहानी सुनाऊँगी। मैं चाहती थी, आज किसी को अपनी व्यथा सुना पाती, जलन दिखा पाती। मेरी कहानी के एक-एक अक्षर से घृणा, पतन और पाप लिपटे हैं, एक-एक शब्द के आगे सहस्रों नरक सिर झुकाते हैं। मैं विवाहिता हूँ, पतिवाली हूँ, सधवा हूँ, और सुहागिन हूँ, यह सुनकर शायद तुम्हें आश्चर्य होगा। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मेरे ही समान कितनी ही

स्त्रियाँ आज विवाहिता हैं। मैंने पति पाया था, ऐसा पति, जो रूपवान् न था। मुझे उस समय अपने रूप का घमंड था, एक बार रति को भी लज्जित करने का साहस रखती थी। समाज ने हमारा अनमोल विवाह कर दिया। मेरे साथ रहने पर वह ऐसे मालूम होते, जैसे हंसिनी और कौआ, प्रभा और अन्धकार, परी और पशु। अब समझ रही हूँ, रूपवान न होना ही उनका ऐसा अपराध न था, जिसके कारण मैं ऐसा भयंकर अपराध करती। कितने रूपवान् ऐसे हैं, जिन्होंने उनके जैसा महत् हृदय, सरल अंतःकरण और प्रखर पांडित्य पाया है? अब देख रही हूँ, रूप के पीछे कितना छल, कितना अहंकार और कितना मद भरा होता है! वह महत् हैं, उदार हैं, पूज्य हैं, देवता हैं, सब कुछ हैं, किन्तु एक समय जब किसी रूपवान् व्यक्ति को देखती, तो छाती पर साँप लोटने लगता। ईर्ष्या होती, डाह होती उस स्त्री के भाग्य पर, जिसने ऐसा पति पाया है। सोचती, यह यौवन, यह शरीर, यह शतदल कमल क्या यों ही मुरझा जायगा? मुझे अधिक दूर न जाना पड़ा। घर में ही, पति की छाया में ही मुझे एक ऐसा विटप मिला, जिसके सहारे लता-सरीखी मैं बढ़ने लगी। पति के पवित्र और वास्तविक आदर-प्यार को छोड़कर, जिसकी एक-एक भंगिमा में असंख्य स्वर्गों और सुखों की मधुरिमा भरी हुई थी, मैं उस झूठे, अपावन, अनित्य मोह की गोद में काल्पनिक माधुर्य के झूले पर झूलने लगी। दिन बीतते जाते थे, अतीत

दूर जा खड़ा होता था, वर्तमान छिपे-छिपे मुँह चिढ़ाता था, भविष्य परिणामों का जाल बुनता जा रहा था। स्वामी को मेरी इस दशा का पता न था। पता होता भी, तो कैसे ? उनके सामने मैं जो वेश्याओं की भाँति प्रेम के नाटक खेलती थी। वह मुझे देवी समझते, अपनी प्रतिप्राणा, धर्मप्राणा, अर्द्धांगिनी समझते। किंतु मैं भी भ्रम में थी। वह युवक, जिसे मैं प्यार करती थी, और जो वास्तव में मेरा भतीजा था, एक दूसरी ही बालिका से प्रेम करता था। इसका पता मुझे तब लगा, जब मुझसे एक भारी भूल हो चुकी थी। उसी दिन से मैं घूम रही हूँ, प्रायश्चित कर रही हूँ।"

वह सहसा चुप हो गई। मुख पर करुणा का अञ्चल पड़ गया। संध्या का रक्तिम आकाश तमसावृत हो गया। लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगे। सब स्तब्ध, सब मौन !

आँखें बन्द किए-ही-किए वह फिर कहने लगी—"दुपहरी थी। वह अपने कमरे में सोया हुआ था, उसकी बहन सुस-राल चली गई थी। अवसर पाकर मैं कमरे में गई। उसी समय मेरे हृदय में उस सुप्त सौन्दर्य को देखकर वासना की नदी उमड़ पड़ी। मैंने धीरे-धीरे उसके अधर चूम लिए। वह उठ बैठा और उसी वक्त उसने मेरे मनसूबों को धूल में मिलाते हुए बतलाया कि वह किसी दूसरे को प्यार करता है और मुझे वह इस जन्म में ही क्या, अनेक जन्मों में भी पूज्या, आदरणीय माता का ही व्यवहार करेगा। उसके

उपदेशों ने मेरी आँखें खोल दीं, अमृतमयी वाणी ने मोह का पर्दा फाड़ डाला। मैं एक दम बदल गई। उसी दिन रात को यह कलंकिन शरीर किसी को न दिखलाने के उद्देश्य से मैं घर से चल पड़ी, और आज यहाँ आकर तुम लोगों के बीच में इस तरह सन्यासिनी की भाँति बैठी हुई हूँ। अब मैंने हृदय का पाप धो डाला है, वासना को विश्व-प्रेम में बदल डाला है, मोह को दूर फेक दिया है। एक बार फिर उन्हें देखना चाहती हूँ, किंतु उनसे मिलूँगी नहीं। केवल उन श्री-चरणों को एक बार देखकर ही अपने प्राण त्याग दूँगी। बस, यही अभिलाषा है।"

जैसे सबके ऊपर किसी ने जादू की छड़ी वर दी हो, सब चित्र-लिखित-से बैठे थे। थोड़ी देर बाद कुन्दन ने फिर कहा—"आप लोग अब घर जायँ। देर अधिक हो गई है। मेरी कहानी आपने सुन ली। संभव है, आप मुझसे घृणा भी करने लगी हों। इसमें मुझे कोई ग्लानि नहीं, जितना आप मेरे इस कलकित शरीर पर थूकेंगी, उतनी ही मेरी व्यथा कम होगी। मैं इसी योग्य हूँ। मेरा सारा जीवन ही घृणा की आग में जलने-योग्य है।"

लोग धीरे-धीरे अपने घरों की ओर खिसकने लगे। रास्ते-भर कुन्दन के चरित्र पर आलोचनाएँ होती रहीं। एक ने कहा—"बहन, हम न जानती थीं कि यह ऐसी राक्षसी है। 'मुख में राम, बगल में छुरी।"

दूसरी ने कहा—"हाँ जी, और क्या! जो अपने पति की न हुई, वह दूसरे की क्या हो सकती है!"

तीसरी ने बड़ी मार्मिकता से सिर हिलाकर कहा—"ये ही सब तो और भी हमें बदनाम कराती हैं। इनसे तो हमीं भले। बड़े घर की होकर यह लच्छन!"

और, आश्चर्य तो इस बात का है कि ये वे ही स्त्रियाँ थीं, जिनके घरों पर उनकी अथवा उनके परिवारवालों की सेवा में कुन्दन ने न-जाने कितनी रातें आँखों में ही काट दी थीं। किसी का एक दोष पा जाने पर हम कितनी जल्दी उसके समस्त सद्गुण और सद्व्यवहार भूल जाना चाहते हैं। यह है हमारी-आपकी मानवता, जिस पर हमें-आपको गर्व है!

एक वृद्धा, जिसके हृदय में अधिक दया-मया थी, बोली—"अरे, तुम सब कहती क्या हो! तुम्हें तो माईजी के पाँव पकड़ने चाहिए। कौन ऐसा है, जो अपनी ग़लती के लिये इतना रोता है? बेचारी से एक भूल हो गई थी, उसके लिये उसने अपनी भरी जवानी मिट्टी कर डाली। तुमसे होगी ऐसी तपस्या? मुझे तो उन पर दया आती है।"

पहली ने कहा—"काकी, तुम्हें तो सब भले ही दिखाई देते हैं। दुनिया में सब देवी-देवता नहीं होते।"

वृद्धा ने कहा—"भला रे भला, चल चुपचाप घर! तू बड़ी देवी बनकर आई है न!"

इस पर सब मुस्किरा दीं और धीरे-धीरे घरों की ओर जाने लगीं।

इतनी आलोचनाएँ और कुन्दन के मुँह से उसकी कहानी सुन लेने के बाद एक व्यक्ति कुटी के द्वार के अँधेरे में से हटा। उसकी लंबी, ठंडी साँस से यह मालूम होता था, जैसे वह बड़ा व्यथित हो। कुन्दन ने दिया बुझा दिया। कुटी में एक बार फिर अन्धकार घनीभूत हो उठा। वैसे ही कुन्दन का हृदय भी!

कुछ थोड़े-से अध-टूटे, गंदे-साफ चीनी के बर्तन, एक ओर अँगीठी पर खौलते हुए गरम पानी को अपने में धरे हुए एक केटली और शीशे के जारों में रक्खी हुई साधारण कोटि की चाय, चीनी तथा पीतल के कटोरों में रक्खा हुआ दूध, जिसके बल पर इस दूकान का मालिक बाबूलाल इसे चाय की दूकान कहता है। दो पैसे से कम की चाय आपको यहाँ न मिलेगी, पीना हो, पीजिए। वह आपको बुलाता नहीं, आप अपने से आते हैं। फिर जैसा वह कहे, करना होगा और जैसा वह करे, मानना होगा।

रमेश चाय पी रहा है। फिलहाल सामने रक्खे हुए कप में सारी दुनिया डुबो दी है। पीते पीते सोच रहा है, या यों कहिए, सोचते-सोचते पी रहा है। जिनका दिमाग डॉक्टरी नियमों और बंधनों से जकड़ा हुआ नहीं है, जो चाय पीने को 'आइडियल डाइट' (आदर्श भोजन) के विरुद्ध नहीं समझते, वे ही इस थोड़े-से चीनी-दूध-मिश्रित गरम पानी का मजा जान सकते हैं। वह सोचता है—लोग कहते हैं चाय

पीने से नींद नहीं आती। मैं पूछता हूँ, सोना ही क्यों इतना जरूरी और जागना क्यों नहीं ? चार दिन जो जीवित रहना है, उनमें से प्रतिदिन छ, सात या आठ घंटे सोकर हम क्यों बिताएँ ? फिर सोना यदि जरूरी और प्राकृतिक है, तो वह अपने आप हो जायगा। जो चीज वास्तव में प्रकृति है, उस पर कभी कोई विजय पा सका है ? एक कप चाय की गरम धारा कैसे उस चिर-सत्य-पुरातन निद्रालोक को पार कर जायगी ?

सोचते-सोचते उसने देखा, सड़क के उस पार, धर्मशाले की छत पर, एक सुन्दर-सी युवती खड़ी है। आयु करीब १६ साल, रंग गोरा, खुले हुए बालों के बीच में सिंदूर की लंबी लाल रेखा। देखकर समझ गया, विवाहिता है, पतिवाली है, सदा-सुहागिन है। वह अन्यमनस्क-सी खड़ी सड़क की ओर, सडक के आने-जाने वालों की ओर देख रही है और सड़क और सड़क के आने-जाने वाले उसकी ओर देख रहे हैं। इस एक क्षण में उसने न-जाने कितने प्राणों को अपनी लटों में उलझा लिया है। यह नहीं कि वह आस-पास की भूखी निगाहों से वाकिफ नहीं, लेकिन उसे इससे क्या ? सौंदर्य और यौवन स्वयं किसी के मेहमान नहीं होते। खुद लोग खिंचकर, बिंधकर, घायल होकर, तड़प-तड़पकर इनके चरणों पर आते हैं, गिरते हैं, उठते हैं और फिर-फिर गिरते हैं। इस उठने और गिरने में जो लुत्फ है; इस घायल होकर

तड़पने में जो सुख है, वह करीब-करीब सब जानते हैं। हाँ, कुछ लोग इस सीधी-सादी मानवता को आदर्शवाद की ओट में रख कर 'देवता' होने का स्वांग भरते हैं और कुछ सीधे-सादे कह देते हैं कि मैं सौंदर्य की पूजा करता हूँ, चाहे वह कहीं भी हो। रमेश के मन ने कहा कि युवती सुन्दरी है। इसके सपर्क में निरंतर रहने वाला, यानी इसका 'मालिक' यानी इसका सब कुछ, यानी इसका 'पति' कैसा भाग्यवान् होगा ?

और तभी "जल्दी, जल्दी, जल्दी एक कप चाय" कहता हुआ और साथ-ही-साथ "दुनिया मुझको कहती पागल, मैं कहता दुनिया को पागल !" कहता हुआ एक युवक दूकान में प्रविष्ट हुआ।

रमेश ने जैसे नींद से जागकर देखा, एक कोने में मेज पर कुहनी टेके युवक बैठा है, जिसके मुख से निकली हुई 'पागल'-शब्द की गूँज अभी तक वातावरण में गूँज रही है। एक अनाकर्षक व्यक्तित्व, आँखें गढ़ों में धँसी हुई, गाल पिचके, सूखे ओंठ, बाल अस्त-व्यस्त। दुबले-पतले शरीर का नाटा-सा व्यक्ति। बदन पर एक कमीज, चौड़ी मोहरी का लांगक्लाथ का पायजामा, पांवों में पेटेंट लेदर का ग्रीशियन। यह दुनिया को पागल कहता है, दुनिया इसे पागल कहती है। यह केवल गाना है या इसके जीवन की कहानी, इस एक वाक्य में केंद्रीभूत होकर बाहर निकल पड़ी है ? लेकिन उसका

उसके बाएँ हाथ पर टिका हुआ मुख, गढ़ों में धँसी हुई आँखें, पिचके हुए गाल, दुबला-पतला शरीर क्यों पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि यह सब सत्य है, दुनियाँ इसे पागल कहती है, और यह दुनियाँ को पागल कहता है।

चाय पीकर उसने पैसे दिए और जाने को उठा। रमेश के मुख से बरबस निकल गया—"माफ करें, आप कुछ मजे के आदमी जान पड़ते हैं। यदि हर्ज न हो, तो कुछ देर और रुक जायँ।"

वह बैठ गया और जेब से चार आने पैसे निकालकर बाबूलाल से बोला—'एक पैकेट गोल्ड फ्लेक।'

मेनका के उत्साहित करने पर उससे रुपए लेकर रमेश काशी आया था, मालती के चरित्र का काला पृष्ठ उलटने। उसे यहाँ आए दो-तीन दिन हो गए थे। अभी तक वह उस युवक का पता न लगा पाया था, जिसके कारण उसे पत्नी के चरित्र पर सन्देह हुआ था। किससे पूछता? मौका देख रहा था कि शायद किसी दिन सहसा उससे परिचय हो जाय। देखूँगा, वह कैसा चरित्र-हीन है, कैसा सुन्दर है, कैसा मोहक है, कैसा आकर्षक है! अब वह कुछ-कुछ निराश हो चला था और सोच रहा था कि संभवतः उसकी यह यात्रा निष्फल ही जायगी। उसने एक-दो दिन और ठहरकर वापस लौट जाने की ठानी थी। आज संध्या को शहर घूमने के लिये बाहर निकलने पर उसकी इस विचित्र युवक से

मुलाकात हुई। उसकी बातों, उसके तौर-तरीकों और उसके असाधारण अल्हड़पन ने रमेश को जबरन् अपनी ओर खींच लिया। दुनियाँ में रहते हुए भी इस युवक ने अपने को दुनियाँ से कितनी दूर कर रक्खा है! आपने आस-पास के वातावरण से ऊपर-ऊपर यह युवक चुपचाप ही अपनी धुन में मस्त है! इसे किस बात का दुःख है? जवानी में यह कठोर वैराग्य इसमें क्यों जाग पड़ा है? इसके मुख की शांत, दृढ़ रेखाएँ साधना के किस पथ पर बढ़ी जा रही हैं और यदि इसे दुःख नहीं, तो इसने अपने को इतना अनाकर्षक, अनुपादेय और गुमसुम क्यों बना रक्खा है? अभाव की काली छाया के नीचे इसके जीवन का प्रकाश धूमिल क्यों हो उठा है?

रमेश एक मिनट में यह सब सोच गया और उस युवक के सिगरेट माँगने पर अपने भडार में बची हुई एक गोल्ड फ्लेक उसकी ओर बढ़ा दी। उसने बिना कुछ कहे ली, जलाई और बोला—"ओह! थैंक यू। मैं कुछ हूँ ही मजे का आदमी।" और फिर—"दुनियाँ मुझको कहती पागल, मैं कहता दुनियाँ को पागल।"

रमेश ने पूछा—"यह एक लाइन ही आपको इतनी प्रिय क्यों है?"

"प्रिय क्यों है? लेकिन मुआफ कीजिएगा, आप मुझसे भी बढ़कर मजे के आदमी जान पड़ते हैं। आप पूछते हैं,

यह एक लाइन ही क्यों प्रिय है? मैं पूछता हूँ, क्यों प्रिय न हो? प्रिय है, इसलिये कि बात बिलकुल सच है। दुनिया मुझको पागल कहती है और मैं दुनिया को पागल कहता हूँ। हम दोनों में से कोई भी अब तक एक दूसरे को न समझ सका, और मुझे भय है कि उस समय तक, जब मैं चिता में लाल लपटों पर सवार होकर इस जीवन के उस पार न चला जाऊँगा, हम एक दूसरे के लिये कहते ही रहेंगे। लेकिन यह सब जान-कर आप क्या करेंगे? बस, इतना काफी है कि दुनिया मुझको पागल कहती है और मैं दुनिया को पागल कहता हूँ।" उसने कहा।

रमेश की समझ में कुछ न आया। उसने फिर प्रश्न किया—"लेकिन दुनिया आपको पागल क्यों कहती है? आप में तो पागल होने के कोई लक्षण नहीं हैं। जिसका दिमाग बिलकुल ठीक है, जो आप-जैसा जीवन की समस्याओं पर बोल सकता है, उसे पागल कहकर दुनिया क्या भूल नहीं कर रही है?"

वह जैसे इस प्रश्न पर हँसा और बोला—"भले आदमी, जिनका दिमाग ठीक हो, जो बड़े-बड़े विषयों पर बुद्धि का भांडार खोल सकते हों, क्या वे पागल नहीं हो सकते? शायद आप यह नहीं जानते कि दुनिया में ऐसे भी पागल हैं। शायद आप यह नहीं जानना चाहते कि दुनिया में मस्तिष्क, बुद्धि और तर्क ही सब कुछ नहीं है। एक ऐसी भी

चीज है जिसके आगे जीवन की ये तीनों विभूतियाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। वह चीज है हृदय, और जब उस पर चोट लगती है, तो जीवन सूना-सूना-सा हो जाता है। उस रिक्तता की अवस्था में, उस शून्यता और अभाव की दशा में मनुष्य जो भी कार्य करता है, वह दुनिया वालों की निगाह में 'पागलपन' होता है। दुनिया किसी की दशा को परि-स्थितियों पर नहीं कसती, वह उसे अपने ढाले हुए चिर-कालीन नियमों, सिद्धांतों और आदर्शों पर कसती है। मुझे दुनिया इसीलिये पागल कहती है कि मैं उसकी इस परीक्षा में फेल हो गया हूँ। पागल हूँ इसीलिये कि दुनिया के किसी काम न आ सका। छोटा था, तभी मा मर गई। वह मा, जिसकी गोद में खेले बिना, जिसके निर्मल अंचल को अपने धूल-धूसरित कलेवर से गदा किए बिना एक व्यक्ति का जीवन अपूर्ण रह जाता है। जिसकी मीठी थपकियों के बिना, जिसकी नेह-भरी भर्त्सना के बिना आदमी का भविष्य सूना-सूना हो जाता है। बचपन सौतेली माता ने खा डाला। पिता हैं, पर वह जैसे मन में प्रेम का महासागर लिए हों, ऊपर से एक बार 'बेटा' कहकर न पुकार सके, एक बार प्यार से बुलाकर पास न बैठा सके। यह जैसे उनकी प्रदर्शन-विरोधी आत्मा के विरुद्ध था, और आप यह मानेंगे कि एक संतान का हृदय माता और पिता से प्यार का प्रदर्शन चाहता है, केवल पुत्र का नाता-भर ही, मूक वात्सल्य

की भावना-भर ही उसके प्यासे अंतःकरण को तुष्टि नहीं दे सकते। एक बड़ा भाई था, उसे भी इन निर्दय आँखों ने मरघट पर जलते देखा। एक बहन थी, वह भी चल बसी। अन्त समय उसका मुख भी न देख सका। मुझ-जैसे पिता, माता, भाई, बहन के स्नेह-विहीन बीस वर्ष के जवान प्राणी को केवल पत्नी के स्नेह का ही आधार रह गया था। विवाह का नाम सुनते ही सपनों के महल, अरमानों की दुनिया और कल्पनाओं का संसार बसाने लगता था। सोचता था, एक पत्नी होगी, जिसके साथ हृदय के तार मिलाकर स्वर्ग की रागिनी निकालूँगा, और उस रस-धारा में अपने सारे अतीत को सदा के लिये डुबो दूँगा। जो मुझे पूरा-पूरा समझेगी। जिसके पास भले ही 'मस्तिक' नाम की वस्तु न हो, पर 'हृदय' अपने पूरे अर्थ में होगा। जो मेरी कमजोरियों को हँसकर बरदाश्त करेगी, और मेरे जीवन में प्रेम की कालिंदी बहाएगी। जो मुझे अपना सर्वस्व भले ही न माने, किंतु जो मेरी साथिन होगी, दोस्त होगी, सहायक होगी, और सब कुछ होगी। जो प्यार देना चाहेगी, इसीलिये प्यार लेना भी जानेगी। जो अपने सौन्दर्य के आकर्षण से मुझे भले ही न खींच सके, पर जिसमें कुछ ऐसा होगा, जिससे मेरा मन, चिर अभिशप्त, अतृप्त मन अपने आप एक अज्ञात रज्जु में बँधा उसके पास दौड़ा चला आवेगा।'

यहाँ वह रुका, और बोला—'लेकिन मुझे सिगरेट चाहिए ।'

लाचार होकर रमेश को एक पैकेट 'पासिंग शो' लेना पड़ा। सिगरेट जलाकर वह फिर कहने लगा—"और एक दिन मेरा विवाह हुआ—जैसे सबका होता है, वैसे ही। पिताजी ने मा के द्वारा मुझे मेरी होने वाली पत्नी का चित्र भी दिखलाया, और आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि मैंने उसे पसंद भी किया, और यही शायद मेरे जीवन की सबसे बड़ी भूल थी। सुना, वह पढ़ी-लिखी है, सुना, वह संगीत जानती है, सुना, वह कविता करती है, और सुना कि जाने क्या-क्या जानती है। सोचा, जब रात्रि के नीरव क्षणों में दिन-भर के कोलाहल से ऊबी हुई मेरी वृत्तियाँ कुछ शांति चाहेंगी, तब वह पास बैठ पढ़कर कुछ सुनाएगी। सोचा, जब जगत् की निष्ठुरताओं से अभिभूत मैं उसके पास आ बैठूँगा तब वह कल-कठ की एक रागिनी से मेरी सारी व्यथा धो देगी, और सोचा कि मेरा हाथ पकड़कर इस जन-संकुल विश्व से ऊपर मुझे अपनी कविता के सहारे उठा लेगी। यह मेरे लिये बहुत था। मुझ जैसे प्यार के भूखे, प्यार से वंचित व्यक्ति के लिये शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक साहचर्य की अधिक आवश्यकता थी। 'वह' आई, और आने के थोड़े ही दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि मेरा बना-बनाया आशाओं का स्वर्ण भवन भि-भू-

सात् हो गया। मुझे जान पड़ा, वह मुझे कुछ नहीं दे सकती। चेष्टा करने पर भी मैं उससे कुछ नहीं पा सकता। उसकी और मेरी दुनिया अलग-अलग हैं। उसकी दुनिया में है लड़ाई-झगड़ा, मैं-तू, भेद-भाव, आरामतलबी, और मेरी दुनिया में हैं शांति की खोज, निर्लिप्तता और जहाँ तक हो सके, परिश्रम। कविता करने के स्थान पर एक शब्द भी शुद्ध पढ़ना असंभव। संगीत यदि उसके गले से निकल सके, तो शायद तानसेन क़ब्र में भी कराह उठें। लेकिन दुनिया मानती थी कि वह सुन्दर है, ऐसा है कि कोई भी पुरुष उसका 'पति' बनकर अपने को भाग्यशाली समझे। उसने आते ही मेरे माता-पिता के विरुद्ध आवाज उठाई। हो सकता है, वे बुरे हों, पर मैं इस विषय में उन्हें दोष नहीं दे सकता। वे बड़े हैं, और मेरा कुछ ऐसा विचार है कि बड़े यदि एक बार हत्या पर भी तुल जायँ, तो भी उनके सामने ज़बान खोलना छोटों के लिये त्रिकाल में भी हितकर न होगा। मैं यदि कुछ समझता, तो वह मेरे सामने भी बग़ावत का काला झंडा लेकर खड़ी होती। मेरे सामने, जिसके सामने विरोध करना हिंदू-स्त्रियों ने आदि काल से मृत्यु-समान माना और जाना है, जो 'पति' है, और जिसका विरोध एक हिंदू-नारी स्वप्न में भी नहीं करती। किंतु शायद वह स्त्री नहीं है, शायद 'नारी'-शब्द उसके लिये नहीं बना है, शायद वह आवश्यकता न रहते हुए भी बरबस माँग में सिंदूर डालकर 'पत्नी' बना दी गई है।

खैर, तो आजकल वह रहती है घर में, पर मैं जैसे उससे अलग। उसने स्वयं ही अपना खान-पान भी अलग कर लिया है। इस आधार पर कि मेरी मा उसे नहीं खिलाना चाहती। मुझसे उससे अब किसी प्रकार का संबध नहीं रह गया है, न मैं रखना ही चाहता हूँ। दुनिया कहती है, वह सुन्दरी है, युवती है, उसे अपनी पत्नी समझो, नहीं तो वह गुमराह हो जायगी। दुनिया की इन बातों पर मैं हंस देता हूँ। लोग मुझसे पूछते हैं कि उसमें क्या अवगुण हैं, मैं उनसे पूछता हूँ कि उसमें क्या गुण हैं? जग मुझसे कहता है कि तुम क्यों उससे दूर-दूर रहते हो, मैं जग से कहता हूँ कि मैं कैसे उसके पास-पास रहूँ? इसीलिये कि वह कुछ लोगों के समने वेदमंत्रों और ऋचाओं के सहारे, लग्न-मडप में बैठकर मेरी पत्नी क़रार दे दी गई है? यह मैं नहीं कर सकता। जिसके साथ आत्मा का संबंध नहीं हो सका, उसके साथ अन्य किसी संबंध की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। इस तरह जीवन में प्यार पाने का अन्तिम अवलंब भी जाता रहा।

अब तीसरी सिगरेट की बारी थी। रमेश से न रहा गया। वह मन-ही-मन उस युवक की, जवानी की आयु में विरागी युवक की दशा पर आठ-आठ आँसू बहा रहा था। उसे यों नष्ट होते देखकर रमेश का जी भर आया! उसने रोका—"इतनी सिगरेट न पिया कीजिए। कलेजा जल जायगा।" वह हँसा। ऐसी हँसी, जिसमें जीवन की विनश्वरता बरस

रही थी। बोला—",कलेजा जल जायगा? लेकिन वह तो कब का जल चुका है जनाब! अब क्या शेष है. जो जलेगा? चारो ओर से निराश, प्यार पाने में असफल मेरा मन, मेरा भूखा हृदय आस-पास के सौंदर्य में अपनी तृप्ति खोजने लगे, यह सर्वथा स्वाभाविक था। मैं प्रत्येक सुन्दर-असुन्दर युवती को प्यार की नजरों से देखने लगा। सोचता था, शायद इनमें से कोई भी मेरी प्यास समझ सके, मेरी भूख जान सके। मैं उनकी ओर देखने लगा। उनसे छेड़-छेड़कर बात करने की चेष्टा करने लगा। इसमें मुझे कुछ शांति मिलती थी। मन की उमडती हुई अशांति-धारा पर क्षणिक बाँध बाँधने में सफलता मिलती थी किंतु स्वार्थी, अन्धे और किसी के हृदय को पढ़ पाने में असमर्थ, थोथे आदर्शवादी जगत् की निगाहों में मेरा यह कर्म 'पाप' समझा गया। लोगों ने ताने मारे, यहाँ तक कि स्वयं मेरे घरवालों ने भी मेरे चरित्र पर लांछन लगाया। मेरा यह रास्ता भी बंद हो गया। तब से मैं लगातार अपने इस घायल उर को दबाए, छाती में जलन और एक असंतुष्ट आत्मा लिये मारा-मारा फिरता हूँ और स्त्रियाँ? उनसे मैं अब घृणा करता हूँ। जहाँ तक हो सकता, उनकी छाया से भी दूर भागता हूँ। क्यों, यह नहीं कह सकता। यों तो जीना है और काम करना है, पर मैं मशीन की तरह काम करता हूँ। नीरस, शुष्क और भाव-हीन! अच्छा, आदाबअर्ज!"

वह उठा और एकदम चलने लगा। रमेश ने एकाएक पूछ दिया—"आपका शुभ नाम ?"

"मोहन।" उसने कहा और गुनगुनाता चला गया—"दुनिया मुझको कहती पागल, मैं कहता दुनिया को पागल।"

प्रभात का मनोरम समय था। बादलों के रथ पर आरूढ़ सूर्यदेव धीरे-धीरे क्षितिज से ऊपर उठ रहे थे। पूरब में लाली छा रही थी। पंछी अपने-अपने नीड़ों में पर फुलाकर किसी अज्ञात शक्ति का गुण-गान कर रहे थे। ससार अँगड़ाई लेकर उठ रहा था।

मरघट पर रात की जली हड्डियों के लिये कुत्ते लड़ रहे थे। मानव-शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी कुछ-न-कुछ काम का रह ही जाता है। चिता की आँच से झुलसे हुए पत्ते प्रभात की प्राणदायिनी वायु पाकर मानो फिर से हरे हो रहे थे।

कुन्दन भी कुटी के बाहर निकली। रात को अपने जीवन की कलुषित कहानी लोगों को सुना देने से 'उसके मन का विषाद और बोझ बहुत अंशों में कम हो गया था, पर फिर भी मारे आत्मग्लानि के वह मरी जा रही थी। भावावेश में वह अपने को सँभाल न सकी, कहने और न कहने योग्य सभी बातें कह गई थी। अब जब उसका उन्माद कुछ

कम हुआ, रात-भर के विश्राम के बाद जब उसका मन स्थिर हुआ, तब उसे अपने ऊपर क्षोभ हुआ। क्या ये बातें ऐसी थीं, जो सबके सामने गर्व से कही जायँ? अपने मन का पाप, अपने चित्त का कलुष और अपने जीवन का कुत्सित पृष्ठ दूसरों के सामने खोलकर क्या उसने उचित किया?

एक साधु उसकी ओर बढ़ा आ रहा था। उसके मुख पर तेज था, सहज गंभीर आंखों में विद्वत्ता की झलक थी। विश्व के संचित करुणा और वैराग्य को जैसे अपने उन्मुक्त विशाल हृदय में दबाए यह व्यक्ति कुन्दन के आगे आकर खड़ा हो गया। वह एकटक उस तेजपुंज मुख को निहारती रह गई। वह बोला—"यहाँ रहने को स्थान मिल सकता है? केवल दिन-भर ठहरकर चला जाऊँगा।"

कुन्दन से कुछ उत्तर देते न बन पड़ा। सकते की-सी हालत में थोड़ी देर खड़ी रहने के बाद बोली—"कहाँ से आना हो रहा है स्वामीजी?"

कृष्णशंकर ने केवल इतना ही कहा—बड़ी दूर से।"

कुन्दन—जाना कहाँ होगा?"

कृष्णशंकर—"बड़ी दूर।"

कुन्दन—"मेरे अहोभाग्य, जो आप यहाँ ठहरेंगे। मेरी दीन कुटिया पवित्र हो जायगी आप उस ओर चलें, उधर एक छोटी-सी कोठरी खाली पड़ी है। वहाँ आप जितने दिन चाहें, ठहर सकते हैं।"

कृष्णशंकर कुन्दन के बताए हुए स्थान पर गए। वहाँ एक छोटी-सी कोठरी, तृण-द्वार-वेष्ठित, उनका स्वागत करने के लिये पहले से ही तैयार थी। कोठरी लिपी-पुती थी, जल आदि का उसमें पूरा प्रबन्ध था। कृष्णशंकर वहीं बैठ गए। कुन्दन के आचार-व्यवहारों में उन्हें असाधारण परिवर्तन दिखाई पड़ा। वही कुन्दन, जिसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपनी कामनाओं की अतृप्त प्यास बुझाना था, जिसने कभी स्वप्न में भी सादगी और सरलता वैभव-शून्य अवस्था में रहना न सीखा था, वही आज इतनी महत् और उदार हो गई है। अब वह क्या करें? इस महत्ता के आगे वह स्वयं अपने को छोटे लगने लगे! कुन्दन में उन्होंने एक नई ही चमक, नया ही ज्ञान और नई ही आत्मा देखी। उनका मस्तक अपने आपही कुंदन के हृदय की विशालता के आगे नत हो गया।

"लीजिए, जो कुछ रूखा-सूखा है, यह ले आई हूँ।" कुंदन ने द्वार पर आकर कहा। साथ ही उसके मुख पर एक विचित्र भाव आकर चला गया।

"ले आओ।" कृष्णशंकर केवल इतना ही कह सके। जिसे खोजते-खोजते वह आज इतनी दूर आ सके, मिलने पर भी वह आज इतनी दूर जा पड़ी है। उन्हें जान पड़ा, जैसे इन्होंने कुन्दन को सदा के लिये खो दिया है। वह चुपचाप खाने लगे।

फिर दिन-भर दोनों में कोई बात न हुई। कुन्दन जैसे उनका साया बचाती रही।

रात के दो बजे। कुन्दन के हृदय में जैसे तूफ़ान उठ आया हो। यह क्या हो गया! पापिनी कुन्दन, देख, यह तेरे पाप का परिणाम है, जो देवता-जैसे तेरे पति आज इस दशा में तेरी कृपा के भिखारी हुए हैं। फिर भी तू जीवित है!

कुन्दन सहसा उठ खड़ी हुई। उसे याद आ गया, उसने कहा था कि एक बार पति के दर्शन हो जाने पर वह अपनी जीवित मूर्ति उनके सामने न ले जायगी। फिर वह क्यों देर कर रही है। उठी, और चुपचाप मातेश्वरी यमुना की गोद की ओर बढ़ी। तट पर पहुँच कर एक ऊँची शिला पर खड़ी होकर सोचने लगी—मैंने उन्हें देख लिया है। वही रूप है, वही तेज है, वही सरलता है, जो एक दिन मेरे लिये काल बनी थी। कितनी ही बार उन्हें देखा है, किन्तु आज-जैसा रूप क्यों नहीं देखा? फिर क्या वह कुछ बदल गए हैं! हाँ, अवश्य। मुख की गढ़न वही है, किंतु अधिक आकर्षक हो गई है। वही तेज है, किंतु अधिक चमक लिए हुए। वही सरलता है, किंतु और भी निखरी हुई। देवता, मुझे क्षमा करो। जाने दो। मातेश्वरी, मुझे अपनी गोद में स्थान दो।

वह कूदना ही चाहती थी कि किसी के बलशाली हाथों ने उसे रोक लिया। वह चौंक उठी, साथ ही घूमकर देखा, उसके स्वर्ग-देवता, जप-तप, सब कुछ उसे हाथों से सहारा

दिए हुए कह रहे हैं—कुन्दन, यह नहीं करना होगा। तुम इस कठिन कार्य के लिये नहीं हो। लौट चलो। जो कुछ हो गया, उसका यह प्रायश्चित्त बड़ा कठोर होगा। तुमने वही किया था, जो कोई भी उस परिस्थिति में करता। जीवन परिस्थितियों का दास है। उसके परे जाने वाला मनुष्य व्यर्थ ही देवता बनने की चेष्टा करता है। मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है कुन्दन, चलो, मेरे साथ चलो। तुम्हारी-जैसी नारी, जिसने अपनी भूल को तपस्या की आँच में तपाकर सोना बना दिया हो, जो अब निर्मल नारीत्व की आभा से दमक रही हो, वंदनीय है! चलो देवी!

कुंदन संदेह स्वर्ग में थी।

रेलगाड़ी के इण्टर क्लास के डब्बे में बैठकर रमेश सोचने लगा—आखिर यह क्या है ? क्या इसी युवक के लिये उसके मन ने अनुचित धारणाएँ बना ली थीं ? यह युवक, जो बेचारा प्यार की दुनिया से एकबारगी ही निर्वासित कर दिया गया है, जिसके जीवन में कभी प्रेम की शतमुखी धारा नहीं प्रवाहित हुई, बल्कि किनारों को ही छूती हुई निकल गई, जो पानी की एक-एक बूँद के लिये तरस रहा है, यह युवक स्वप्न में भी कभी मालती के प्रति कुदृष्टि रख सकता है ? यह बात दूसरी है कि ब्याज के पहले दोनों ने एक दूसरे को जाना, माना और पहचाना; यह भी दूसरी बात है कि दोनों अब तक एक दूसरे को न भूल सके, किंतु क्या केवल इतनी सी ही बात यह प्रकट कर देती है कि दोनों दुश्चरित्र हैं ? मैं क्यों अपने वे दिन भूले जा रहा हूँ, जब घर में सब कुछ रहते हुए भी बाजार की जूठन खाने के लिये मेरा मन लालायित रहता था ? निष्कलुष, निर्मल पत्नी और अकपट, सरल मोहन के चरित्र पर अविश्वास करके क्या

मैंने भयंकर पाप नहीं किया? मैं मोहन का पता लगाने और अपना संदेह दूर करने के लिए काशी तक भागा चला आया। यदि मालती भी मेरे विषय में यही पंथ ग्रहण करे, तो?

सोचते-सोचते रमेश को नींद आ गई, और खुली तब, जब वह अपने स्थान पर पहुँच गया था। सवारी करके घर आया, और सीधे मालती के कमरे में पहुँचा। देवी-जैसी पत्नी के प्रति मन-ही-मन वह जो पाप कर चुका था, उसका प्रायश्चित वह तुरन्त कर डालना चाहता था। वह मालती पर यह प्रकट कर देना चाहता था कि वह भी निष्पाप है, और मोहन भी। उन दोनों के संबंध में अब उसे शंका करने की आवश्यकता न रह गई थी। जब वह मालती के पास दबे पाँवों पहुँचा, उसने देखा कि वह रोते-रोते मूर्च्छित हो गई है। रमेश को काठ मार गया। वह समझ गया कि यह अभागिनी नारी प्रेम और कर्तव्य के बंधन में बंधकर आज उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ केवल रुदन-ही-रुदन है। एक अनंत, अक्षय प्रेममयी के ऊपर वासना का आरोप लगाया है, जिसने उसके जीवन के समस्त सारभूत सौंदर्य, माधुर्य और कोमलता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इस पुष्प-दल को दलने का भी सारा श्रेय उसी पर है। यदि वह असावधानी न करता, अत्यधिक उतावलापन न दिखलाता, तो शायद मालती ही द्वारा सारे रहस्य का भेदन हो जाता। उसे मोहन की खोज में जाने की आवश्यकता ही न होती। उसके बिना कारण बताए घर से

चले जाने और इतने दिन तक अनुपस्थित रहने ने ही इस दीना नारी के मन में यह बात जमा दी है कि यह सब उसके चरित्र को कसौटी पर कसने के ही लिये हो रहा है। और, एक नारी, निष्कलंक नारी जब यह देखती है कि सूम के सोने की भांति सुरक्षित किए हुए उसके सतीत्व और कौमार्य पर आक्षेप हो रहा है, तब वह जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ही अधिक श्रेयस्कर समझती है। पति की नज़रों में हीन बनकर, उसके संदेह और शंकाओं का कारण बनकर रहनेवाली नारियाँ शायद हिंदू कुलों में नहीं होतीं। एक हिंदू-कुल की ललना पति के सामने बिलकुल खुली रहना चाहती है।

चाँदनी-धुली रात में, उस निर्वस्त्रा धरित्री पर यदि कोई प्राणी उस समय सबसे अधिक दुखी, चिंतित और पीड़ित थी, तो वह शायद मालती थी। वह स्वप्न देखते-देखते चीख़ उठी—प्राणनाथ, मुझे न मारो। मैं बिलकुल निरपराध हूँ। मैंने तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा। तुम मेरे देवता हो, स्वामी हो, और सब कुछ हो। और मोहन? वह मेरे यौवन का प्रभात है। तुम उसकी दुपहरी हो, जहाँ आकर प्रभात अपनी पूर्णता पाता है। लेकिन प्रभात भूल जाने की वस्तु तो नहीं है! उसने मुझे प्रेम करना सिखाया है, जो मैं तुम्हें दे रही हूँ। क्षमा देवता, मुझ पर अविश्वास न करो।

मालती के चीख़ उठते ही रमेश ने उसे गोद में भर लिया

मालती की मूर्छा भंग हुई। उसने देखा, रमेश उसकी ओर देख रहा है, वह लाज से गड़ गई। क्षण-भर में ही सँभलकर और अलग हटकर रमेश के पाँव छूते हुए बोली—"कब आए? कहाँ गए थे?"

रमेश कुछ न बोल सका। मालती के मुख पर एक ऐसा भाव खेल रहा था, जिसमें दृढ़ निश्चय, संयम और कठोर बलिदान झलक रहा था। रमेश ने सिर नीचा कर लिया।

मालती समझ गई। उसने स्वयं कह डालना चाहा, और कहा—"तुम मोहन का पता लगाने गए थे, यह मैं समझ गई हूँ। तुमने उसे कैसा पाया, उसके विषय में क्या धारणाएँ स्थिर की, इससे मुझे कोई गरज नहीं। मैं केवल अपनी बात जानती हूँ और वह यह कि तुम्हारी दृष्टि में कुलटा बनी रहकर मैं तुम्हारे साथ रहना नहीं चाहती। यदि एक बार तुम यह भी कहो कि तुम मुझे अब निष्कलंक मानते हो, तब भी, मैं जानती हूँ, यह सदेह का काँटा तुम्हारे दिल से शायद दूर न हो सकेगा। पुरुष-हृदय जब एक सन्देह को पाल लेता है, तो सरलता से उससे छुट्टी नहीं पाना चाहता। उसके इस सन्देह ने आज हम अभागिनों की जिन्दगी दूभर बना दी है। पुरुष स्वतन्त्र है, अतः वह दर-दर रस-लोभी भँवरे की भाँति रस-संचय करता घूमता रहता है, किन्तु नारी को यह अधिकार देने की उसकी प्रवृत्ति नहीं। तुम्हारे दिल में मेरे लिये सन्देह घर कर गया है। तुम उसे दूर करना भी चाहोगे, तो वह जबरदस्ती होगी।"

रमेश अब न रुक सका। बोला—"मालती, यह कैसे कहूँ कि सन्देह नहीं था, किंतु अब वह दूर हो गया। मैं तुम्हारे प्रति अपराधी हूँ। लेकिन तुम्हारे प्रति मेरा पहला अपराध है, अतः तुमसे क्षमा प्राप्त कर लेने का अपने को अधिकारी समझता हूँ। मैं काशी गया था। वहाँ मोहन से मिला। मैंने पाया, वह ऊँच-नीच, भले-बुरे आदि को ज्ञान से बहुत ऊपर जा चुका है। उसका जीवन उसकी पत्नी ने खा डाला है। अब वह पागल हो चुका है। जितनी देर उसके पास बैठा रहा, आँसुओं की धारा बहती रही और उसके मुख से उसके जीवन की कहानी सुनकर मैं सिहर उठा। एक स्त्री के कारण मनुष्य का जीवन इतना तम-पूर्ण हो सकता है, यह मैं तभी समझ सका। मालती, मैं उसे यहाँ ले आना चाहता हूँ। अब वह तुम्हारे साथ रहे। शायद तुम्हारे निकट रहने से उसके हृदय की ज्वाला कुछ बुझ सके। मैं उस बेचारे की कठिनाई समझ रहा हूँ। तुम्हारे साथ चिर-मिलन के बन्धन में बँध नहीं सकता, अपनी पत्नी के साथ मन न मिलने के कारण एक पल भी रह नहीं पाना उसके लिये असंभव है और अपनी तथा परिवार की प्रतिष्ठा, गौरव और मर्यादा का खयाल करके गलत राह पर जा नहीं सकता। आखिर उस बेचारे को यौवन का सहज स्वाभाविक सन्तोष कहाँ से प्राप्त हो। उसके सामने केवल एक उपाय है और वह है अपने को दबा-दबाकर, पीस-पीसकर नष्ट कर डालना।

अपने जीवन को साक्षात् मरुभूमि बना डालना और धीरे-धीरे इस संसार से मिट जाना। मालती, तुम उसे अपने हाथों में लो। मैं जानता हूँ, तुम्हीं उसे सुधार सकोगी। उसके जीवन में क्षणिक शांति ला सकोगी। मैं उसका नष्ट हो जाना नहीं देख सकता।'

मालती विस्मय-विमुग्ध हो गई। वह केवल इतना ही पूछ सकी—"यह क्या 'तुम' कह रहे हो ?"

रमेश—"हाँ मालती, मैं कह रहा हूँ। तुम इसमें आश्चर्य न करो। तुम्हें यह भारी बोझ उठाना ही होगा। सोचो तो उसका और कौन है ? यों तो दुनिया में उसके सभी हैं, किन्तु वह कब किसकी बन पाया है ? तुम भी उसे निराधार, निराश्रित, उपेक्षित छोड़ दोगी, तो वह कहाँ रहेगा ? मैं कल पुनः काशी जाऊँगा, और उसे साथ लाऊँगा।"

❀ ❀ ❀ ❀

इसके बाद की कथा केवल इतनी है कि मोहन काशी से बरबस लाया गया, और मालती के साथ रहने को बाध्य किया गया। अब उसके बाल व्यवस्थित रहने लगे, शरीर पर कपड़े धुले रहने लगे, और मन की होली पर थोड़ी-सी राख पड़ गई। सावित्री को भी मालती ने थोड़े दिनों बाद बुला लिया, और अपने पास ही रखने लगी।

———

आज रमेश एक महीने से बीमार है। अधमुँदे नयनों से जितनी बार उसने मोहन और मालती को दत्तचित होकर अपनी परिचर्या करते देखा है, उतनी बार उसके हृदय से एक गंभीर प्रश्वास निकल पड़ा है। किस स्नेह से मोहन उसे पथ्य देता है, किस प्रेम से उसकी खोज-खबर रखता है, ये बातें देख-देखकर उसकी आत्मा मोहन के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हो उठी। वह सोचने लगता कि उसके ही कारण मोहन के जीवन में विराग, विरक्ति और नैराश्य का काला परदा पड़ गया है। यदि वह इन दोनों के स्वप्न में न आ पड़ता, तो ये दोनों आज कितने सुखी और प्रसन्न होते। सोचते-सोचते धीरे-धीरे वह एक निश्चय पर पहुँच रहा था। वह ऐसा समझने लगा था कि अब उसका जीवन-काल समाप्त हो रहा है। वह चाहता था कि मृत्यु के समय, शय्या पर पड़े-पड़े, वह मोहन और मालती के हाथ एक कर जाय, ताकि उसके आँख मूँदने के बाद दोनों एक अनन्त, अमर, अटूट स्नेह के बधन में बँध जायँ। बड़ी सावधानी से, सतर्कता से वह

उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था। उस एक पल के लिये विकल था। कहीं ऐसा न हो कि असावधानी में वह क्षण आए, और चला जाय, उसकी आँखें बंद हो जायँ और उसकी यह साध मन में ही दबी रह जाय। सोचते-सोचते उसकी आँखें बंद हो गईं और व्यथा के अतिरेक में वह सो गया।

उसकी आँखें खुलीं तब, जब रात के दो बज चुके थे। उसने देखा, थककर दोनों सो गए हैं। मोहन उसके पायताने दीवार से उठँगा हुआ है, और मालती कुहनियों पर पर गाल टेके कुर्सी पर पड़ी हुई है, मानो तनिक भी आहट पर उठ पड़ने को उद्यत। उसने देखा, दीपक के क्षीण प्रकाश में भी मालती के मुख की चिंता-रेखाएँ स्पष्ट हो पड़ी हैं। दिन-रात अनवरत गति से अपने मनोभावों से युद्ध करते-करते उसके मुख पर एक अजीब नीरवता व्याप्त हो उठी है, और वह जैसे संग्राम-क्षेत्र में खड़े योद्धा की भाँति समस्त वारों को झेल रही है। उसके अधर कुछ हिल से रहे हैं, आँखें बंद होने पर भी कुछ खोज-सी रही हैं, और हृदय की प्रत्येक धड़कन कुछ कह-सी रही है। इसी समय उसे जोर से खांसी आई। मोहन और मालती दोनों एक साथ ही उठ बैठे।

मोहन ने कहा—"भैया, क्या है ?"

मालती ने कहा—"अब कैसी तबियत है ?"

रमेश ने कहा—"मोहन भाई यों रात-रात-भर जागकर

कब तक मेरे पीछे अपना वक्त बरबाद करोगे ? जाओ, जाकर सो रहो। मेरी फिक्र न करो।"

मोहन—"हमेश भैया, आप लोगों की थोड़ी सी सेवा करके जो आनन्द मुझे मिलता है, उससे वंचित न करो। मेरे लिये अपना जी बहलाने का यही तो साधन रह गया है। इसे भी छीनकर क्या मुझे मार डालना ही पसंद करोगे। तुम घबराओ नहीं भाई, अच्छे हो जाओगे, मालती की ओर देखकर तो धैर्य धारण करो।"

रमेश को मालती का नाम सुनकर कुछ कहने का अवसर मिला। बोला—"मालती ! हाँ, मालती मेरे साथ सुखी न हो सकी। उसका जीवन मैंने साक्षात् नरक बना दिया। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे न रहने पर भी वह तुम्हें लेकर सुखी हो सकेगी। मेरे साथ उसका कर्तव्य का बंधन था, तुम्हारे साथ प्रेम का बंधन है, और प्रेम का बंधन सदैव कर्तव्य के बंधन से बड़ा है। लाओ, तुम दोनों अपना हाथ मुझे दो। देखना, इस मिले हुए हाथ की लाज रखना। दुनिया कहेगी, यह मेरा पतन है। एक पुरुष जीते-जी यदि अपनी पत्नी का हाथ किसी दूसरे पुरुष के हाथों में पकड़ा दे, तो दुनिया की निगाह में यह उसकी नीचता है, कायरता है, और ओछापन है। पर मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता। हंसिनी का मेल कौए के साथ नहीं हो सकता।"

उसने मोहन और मालती का हाथ बरबस खींचकर

मिला दिया और चारों हाथों को अपने दुर्बल हाथों में लेकर अपनी छाती पर रख लिया।

प्रातःकाल, जब सूर्यदेव क्षितिज से ऊपर उठ रहे थे, इस घर से एक शव बाहर निकालने की तैयारी हो रही थी।

❀ ❀ ❀

अभागिनी मालती का क्या हुआ ? पिता और पति को खाकर वह कहीं की भी न रह गई। वह तो महादेई अब सीधे मुँह बात कर लेती थी, अन्यथा उस विपत्ति की मारी के लिये कहाँ शरण थी ! मालती ने छाती पर पत्थर रखकर पति-वियोग का भीषण दुःख सहा और तब से दिन-रात वह घर के काम में पिसी रहती है। यदि दो-चार सगे-संबन्धियों का भी सहारा न होता, तो वह वेदना के अथाह सागर में कब की डूब गई होती। शहर छोड़कर वह एक गाँव में आ बसी है और वहाँ के निवासियों के सुख-दुख, आमोद-प्रमोद में अपने मनस्ताप की ज्वाला शांत कर रही है। भाई ने बहुत समझाया, मा ने भी कहा, यहाँ तक कि रेणु ने भी गले में हाथ डालकर रोकना चाहा पर वह निरवलंब, निराधार, पतिहीना मालती न रुकी। सेवा-व्रत ही अब उसका आधार है, भिक्षा-वृत्ति ही अवलंब है और एक छोटी-सी कुटी ही उसकी दुनिया है।

सुरेश, महादेई और रेणु वृन्दावन चले गए। तब से वे वहीं हैं और यह बेचारी मालती संन्यासी की भाँति गाँव के रहने वालों को स्नेह का अक्षय सन्देश सुना रही है। इतने पर

भी तारों-भरी रात में पति की स्मृति हृदय के अन्तरतम प्रदेश में कसक ही उठती है।

गर्मी के दिन थे, जेठ का महीना। सूर्यदेव बादलों में ऊपर उठ रहे थे। अभी करीब दस बजे होंगे। गाँव के पोखरे पर महिलाओं का जमघट था। कोई नहा रही थी, कोई केश धो रही थी। उपस्थित महिलाओं में बृद्धा भी थीं, युवती भी। रानी भी थी, रंकिनी भी। वयस और स्वभाव के अनुसार उनकी टोलियाँ भी बँट गई थीं। ऐसे अवसरों पर जैसा होता है, तरह-तरह की बातें हो रही थीं किन्तु सब व्यर्थ, अनुपयुक्त और शृंखला-हीन।

जग्गी की मां ने बड़ी मार्मिकता से सिर हिलाकर कहा—"क्यों रे! तुम लोगों ने भी तो देखा होगा। लडका क्या है, पूरा देवता है। मैंने तो भाई, इस जिन्दगी में बहुत से ब्याह देखे, पर रामलाल ऐसा वर नहीं देखा। बोलता है, तो मानो मुँह से फूल झड़ते हैं। उस दिन दादी कहकर सामने खड़ा हो गया, मैं तो जैसे धरती में गड़ गई। लछमिनिया का भाग्य चोखा था, क्यों री मालती!"

मालती जो अब तक दूर वृक्षों की श्रेणी के सघन अंधकार के बीच से अपने असमय, निराश्रय, निरवलंब जीवन के लिये कोई प्रकाश, कोई ज्योति, कोई आश्रय खोज निकालने का व्यर्थ प्रयास कर रही थी, बोली—"क्या जाने दादी, मैंने तो भर आँख देखा भी नहीं। जब अपनी सोने की लंका में

आग लग गई, तो मेरे लिये अब इस संसार में क्या रह गया! पर हाँ, सुनती हूँ, लड़का अच्छा है। सौ में एक है।"

मालती की वयस अब बीस के लगभग है। अच्छी, सांवली, गोलमटोल युवती है। माँग में अचल सुहाग के चिन्ह सिंदूर के स्थान पर सीधी-सादी, सरल, उज्ज्वल रेखा है, जो मानो दूर से ही पुकारकर कह रही है कि मैं अभागिनी हूँ, मेरा स्वर्ण-संसार आज धूल में मिल गया है।

जग्गी की मा पास खिसक आई। वेदना और निराशा की मूर्ति मालती को देखकर उसका कलेजा फट-सा गया। इस युवती के आर्त स्वर में कुछ ऐसा था, जिसने उसे एकबारगी ही आत्मविस्मृत कर दिया। उसका युग-युग का संचित मातृ-प्रेम, जिसकी भूख कभी न मिटी, जिसकी प्यास अनवरत चेष्टा करने पर भी अतृप्त रही, आज इस आधार-हीना बालिका को देखकर उमड़ चला। मालती के मस्तक पर हाथ फेरती हुई बोली—"बिटिया, ऐसे नहीं गम करते। जो होना था, हो गया। अब आगे का देखो। चार दिन जीना है, रो-रोकर काटने से क्या लाभ! मेरा देखो। जब दो बरस की थी, बाप चल बसा। चौदह पूरा होते-न-होने मा भी चली गई। ब्याह के एक बरस के अन्दर 'वह' भी रूठ गए। तब से पहाड़-ऐसी जिंदगी काट रही हूँ। रोज मनाती हूँ, भगवान् मौत ही दे दें, पर वह भी नहीं सुनते। जैसे वह भी रूठ गए हों। चलो रानी, नहा लें। दुपहरी चढ़ी आ रही है। मेरी अच्छी

बिटिया, तू तो अभी खेल-खा। गम किस बात का। हम तो हई हैं।"

जग्गी की मा ने बरबस मालती का हाथ पकड़कर उठाया, और पोखरे में नहाने उतर गई। पल-भर के लिये शीतल, निर्मल जल ने मालती के हृदय के दुःख-दर्द को बहा दिया। वह अल्हड़ लापरवाह बालिका की भाँति जल में विहार करने लगी। सहानुभूति के दो शब्द कितने मीठे, कितने मोहक और कितने सांत्वना-प्रद होते हैं। क्षण-भर पहले जो वेदना छाती पर सिल सी जमी हुई थी, जो मनस्ताप अपना भयंकर मुख दिखलाकर मालती को निरन्तर डराता रहता था, वह जैसे इन अमृत-भरे शब्दों में विलीन हो गया।

मालती ने नहाते नहाते कहा—"दादी, अब मुझे अच्छा नहीं लगता। समझाने को सब समझते हैं। मैं भी समझती हूँ कि गई चीज अब नहीं मिलने की, पर कहीं कुछ सूझ नहीं पड़ता। तुम्हीं बोलो मैं कैसे क्या करूँ ? घर में मैं रहना नहीं चाहती। ऐसी दशा में सिवा इसके कि जहर खाकर सो रहूँ, और क्या कर सकती हूँ !"

उसकी आँखों से दो बूँद तप्त आँसू जल में गिर पड़े और लहर-लहर ने मणि की तरह उन्हें लूट लिया, जैसे कोई अनु-पमेय, अतुलनीय निधि पा गई हों।

जग्गी की मा जिसने अभी थोड़ी देर पहले बालू की भीत उठाने का निष्फल प्रायस किया था, बोली—"बिटिया, अब

रोएगी, तो मार बैठूँगी। ऐसे कहीं रोते हैं। मेरी लाल, अधीर न होओ। जहर खाकर सोएँ तेरे दुश्मन, तू क्यों सोचती विचारती है। चल, अब निकलें।"

मालती वेसुध की भांति ऊपर आई। यदि इस समय कोई उसे वृश्चिक-दंश की भी पीड़ा देता, तो शायद वह न खयाल करती। इस समय उसका ध्यान कहीं और था। अपनी सारी मधुरिमा, सौंदर्य, उन्माद और अनुराग लिए उसका पति उसके सामने खड़ा था। वृक्षों की मरमर में उसकी वाणी गूँज रही थी, वायु के झकोरों में उसका संगीत लहरा रहा था, सरोवर की लहर-लहर में उसका सौंदर्य प्रवाहित हो रहा था। उसके जीवन का अखंड दीप आज निष्ठुर वायु के थपेड़ों में पड़कर बुझ गया था, पर उस ज्योति-माला की बिखरी हुई लड़ियाँ आज भी उसे मोहित कर रहीं थीं। इस शून्य और ऊसर संसार-भूमि में जिस विटप के सहारे लता-सरीखी वह अपने सारे आनंद, आशा और आकांक्षाओं के साथ लिपटी पड़ी थी, वह क्रूर काल के निर्दय प्रहार से समूल नष्ट हो गया। आज उसे सब याद आ रहा था। उसने अपने पति को क्या सुख पहुंचाया? एक तनिक से संदेह के कारण उन पर अविश्वास किया। पुरुषों की सहज स्वाभाविक सौंदर्य-प्रियता को एक दूसरे ही अर्थ में ग्रहण किया। उन बीती हुई उमगों के दिन और अरमानों की रातें अपनी एक-एक घड़ी में स्वप्न, धोका, छल लिए उसके सामने आ खड़ी हुईं। वह क्यों न जान

गई कि यह सब थोड़े दिनों के लिये है। क्यों न समझ गई कि वह एक दिन उसे छोड़कर जन्म-भर के लिये चले जायँगे ?

विगत दिनों की खट्टी-मीठी स्मृतियाँ ही भविष्य जीवन की पथ-प्रदर्शक होती हैं ।

जग्गी की मा धोती बदल चुकी थी। मालती ने कठोर होकर आँखों की उमड़ती हुई सरिता पर बाँध लगाया, और घर की ओर चली—जैसे कोई उद्देश्य-हीन, पथ-भूला पथिक रात होती देखकर किसी सराय की ओर चले।

मोहन उसे ढूँढ़ता हुआ आ रहा था। एक ठंडी आह लेकर बोला—"चलो मालती, बड़ी देर हुई।"

मालती—"हाँ, चलो।"